मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'

जैन दर्शन
के
परिपार्श्व में

प्राथमिकी

एक वृद्ध दार्शनिक अर्ध-रात्रि के समय घर से निकला और चिन्तन मे डूबा हुआ एक बगीचे मे पहुच गया। बगीचे मे वह एक बेंच पर बैठा ही था कि उद्यान के प्रहरी ने कडककर कहा—"कौन हो तुम ?"

वृद्ध ने गम्भीर होकर कहा—"मेरे समक्ष यही तो जटिल समस्या है। मैं नही जानता कि मैं कौन हू ? मैंने तो उस खोज मे जीवन बिता दिया पर कोई पता नही चला। तुम्ही बता दो मैं कौन हू ?"

प्रबुद्ध लोग कहते हैं—यह आत्म-जिज्ञासा ही दर्शन-उत्पत्ति की मुख्य पृष्ठभूमि है। जैनागम आचाराग में, मैं कौन था, कहा से आया हू और यहा से च्यवन प्राप्त कर कहा जाऊगा—इस गहन मीमासा के परिपाक मे जीवन-दिशा का सही मार्ग निकलता है। और इसे ही अध्यात्म-परिभाषा मे दर्शन कहा जाता है। चिरकाल से जो सत्य आवृत और अनाकलित पडा है, उसे उद्घाटित एवं आकलित करने का सत्प्रयत्न ही दर्शन की अभिधा धारण करता है।

जैन दर्शन एक आत्मवादी दर्शन है। उसके अभिमत मे जीवन का परम प्रयोजन आत्म-मुक्ति है और उसके साधन हैं सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र।

वर्तमान युग विज्ञान के वर्चस्व का युग है। आज विज्ञान का बोल-बाला है। जैन दर्शन के तथ्य भी विज्ञान की कसौटी पर कसे जा रहे हैं और वे खरे उतर रहे हैं। इसलिए विचारक लोगो के मन मे जैन दर्शन के प्रति बहुत आकर्षण और खिचाव बढ रहा है। भारत मे ही नही, विदेशों

मे भी जैन दर्शन के अनुशीलन एव अनुसधान का कार्य तीव्र गति से हो रहा है।

पर विज्ञान स्वय प्रयोग की भूमिका पर खडा है। अत जो तथ्य विज्ञान-सम्मत हो, वे ही सत्य हो—यह अनुबन्ध नही है। विज्ञान स्वय विकासशील है। उसके अनेक सिद्धान्त और मान्यताए परिवर्तित हो चुकी हैं। अत 'विज्ञान को ही प्रामाण्य की कसौटी नही माना जा सकता। सत्य की उपलब्धि विज्ञान की सीमा से परे भी हो सकती है। ऐसी स्थिति मे दर्शन की सत्य-साक्षात्कार की अर्हता स्वयसिद्ध तथ्य की भाति स्पष्ट है। जैन दर्शन भी इसी अर्हता को अपने मे लिये हुए है।

'जैन दर्शन के परिपार्श्व मे' मेरे निबन्धो का सकलन है। इसमें जैन दर्शन के कुछ पहलुओ पर प्रकाश डाला गया है तथा कतिपय स्वतन्त्र विषयो पर भी दृष्टिपात किया गया है।

प्रस्तुत संकलन मे इक्कीस निबन्ध सकलित है। निबन्ध-लेखन मे सत्य का काफी अतराल है। इसलिए भाषा और प्रतिपादन-शैली मे पार्थक्य भी सभव हो सकता है। फिर भी विषय-बोध की दृष्टि से एक क्रमबद्धता और लयात्मकता बनाए रखने का प्रयत्न मैंने किया है।

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व मे तेरापथ सघ ने साहित्य की विभिन्न विधाओ मे युगीय चेतना के अनुरूप अभिनव कदम उठाए हैं। 'जैन दर्शन के परिपार्श्व मे' उसी शृखला की एक कडी है। इस सकलन के अधिकाश निबन्ध साहित्य-परामर्शक मुनिश्री बुद्धमल्लजी के दिशा-दर्शन मे दिल्ली, बगलोर और कलकत्ता प्रवास-काल में लिखे गए हैं तथा भगवान् महावीर से सबद्ध लेख पिछले वर्ष निर्वाणोत्सव के प्रसग पर मुनिश्री दुलीचन्दजी के सान्निध्य मे लिखे गए थे। इस सकलन के माध्यम से जैन दर्शन की जानकारी और प्रभावना लोगो मे वृद्धिगत हो, इसी मगल कामना के साथ।

मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'

लाडनू
२० फरवरी, १९७६

आध्यात्मिक दर्शन कहलाते हैं। प्राय पाश्चात्य दर्शन भौतिकता-प्रधान कहे जाते हैं और भारतीय दर्शन अध्यात्म-प्रधान।

वैज्ञानिक उपलब्धियो से प्रभावित हुआ आज का अधिकाश भारतीय जनमानस पाश्चात्य दर्शन की ओर अधिक आकृष्ट है। अपने मौलिक विचार-निष्कर्षों के विस्मरण और अज्ञान से ऐसा ही होता है। एक बार की घटना है—समुद्र मे यात्रा करते हुए एक बडे जहाज के कप्तान ने द्वीपवासियो से पानी के लिए सकेत किया। द्वीपवासियो ने कहा—बाल्टी उसेरिये और पानी भर लीजिये। कप्तान अपनी अवज्ञा समझ कुपित हो उठा और उसने अपने व्यक्तियो को आदेश दिया—इस द्वीप को तोपो से उडा दो। एक अनुभवी वृद्ध रसोइए ने नीचे का पानी खीचा और चखकर देखा तो लगा—पानी खारा नही मीठा है। उसने कप्तान को सारी बात बताई। कप्तान ने छानबीन की। मालूम पडा जहाज के आसपास एक वेगवान मीठे जल की धारा बह रही है।

रहस्य यह है कि पाश्चात्य विद्वान्, अन्वेषक और जन-सामान्य भारतीय दर्शन के प्रति हमसे भी अधिक आकृष्ट है, पर भारतीय विद्वान् अपनी विचार-निधियो से उस कप्तान की तरह अनभिज्ञ है।

प्रतिपाद्य विषय

प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है—जैन दर्शन। जैन दर्शन व्यापक और उन्मुक्त दर्शन है। वह कोई व्यक्ति, जाति, वर्ग और सम्प्रदाय विशेष से बधा हुआ नही है।

जैनागम मे कहा गया है—"सेवता कोह च माण च माय च एय पासगस्स दसण"—जिसने कषाय-चतुष्क का परित्याग किया है वही पश्यक है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है और जिन है। जिनकी सारमयी एव कल्याणमयी विचारधारा है उसी का नाम ही जैन दर्शन है।

जैन दर्शन की विशेषता

जैन दर्शन ने सबसे अधिक महत्त्व आत्मा को दिया है। उत्थान-पतन की सारी नकेल जैन दर्शन के अनुसार आत्मा के हाथ मे है। उसका उद्घोष है—'अप्पा कत्ता विकत्ता य'—अर्थात् आत्मा ही अपने सुख-दु ख की कर्त्ता और विकर्त्ता है। वह स्वय ही अच्छे-बुरे कर्म करती है, स्वय ही कृत कर्मों को भोगती है। स्वय ससार मे भ्रमण करती है और स्वय ही उससे मुक्त होती है।

जैन दर्शन की यह मौलिक विशेषता है कि उसने हर व्यक्ति को परमात्मा बनने की स्वाधीनता दी है, जबकि अन्य दर्शनो ने व्यक्ति को स्वतन्त्र नही, ईश्वराधीन रखा है। उन्होने कहा है—यह प्राणी अज्ञ है और अपने सुख-दु ख का स्वामी नहीं है। ईश्वर-प्रेरित ही नरक और स्वर्ग को जाता है। जैन दर्शन ने इस परायत्तता की दीवार को गिराकर स्वय के निर्माण और विकास को पूरा अवकाश दिया है जो कि हर आत्मा को नैसर्गिक ही प्राप्त है।

आत्मवाद की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त जैन दर्शन के दो मुख्य परिणाम और भी है—अहिंसा और अपरिग्रह। वैमनस्य—सत्रस्त और भोगवाद से अभिशप्त विश्व मे इनकी मनोवैज्ञानिकता स्वय सिद्ध है। जैन दर्शन के अनुसार धर्म वही है, जहा अहिंसा और अपरिग्रह की पुष्टि है। धर्म के नाम पर हिंसा और शोषण करनेवालो पर इसका करारा प्रहार है।

जैन दर्शन का पक्ष

जैन दर्शन हर समस्या को त्याग और सयम से सुलझाने मे विश्वास रखता है। असल मे स्थायी और मनोवैज्ञानिक समाधान यही हो सकता है। सयमी और त्यागी वस्तुओ की अल्पता मे भी शान्ति प्राप्त कर सकता है।

पदार्थों की अल्पता मे सतुष्ट रहने वाला और हृदय को विशाल

रखने वाला व्यक्ति अपनी और दूसरो की समस्या को स्वय सुलझा लेता है। वह अपने द्वारा कोई समस्या पैदा नहीं होने देता। सयम जैन दर्शन का अपना मौलिक और विशिष्ट पथ है।

साध्य और साधन

जैन दर्शन के अनुसार जीवन का साध्य सारे बन्धनो से छुटकारा पाना है। कर्मों के आवरण को हटाकर चिन्मय स्वरूप को प्राप्त करना है। इस साध्य को उपलब्ध करने का साधन भी मनुष्य को अपने ही जीवन से मिलता है। वाचक मुख्य उमास्वाति के शब्दो मे वह 'सम्यग् ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष' है। सम्यग् ज्ञान और सम्यक् क्रिया ही सारे झझटो का निराकरण कर सकते हैं। जैसे पक्षी दो पखो से उडते हैं, आदमी दो पैरो से चलता है और रेल दो पटरियो पर चलती है, वैसे ही जीवन-उत्थान की ये दो प्रक्रियाए हैं।

सक्षेप मे जैन-दर्शन आत्मवादी है, वह परिणामी नित्यत्व को स्वीकार करता है। सिद्धान्त-प्ररूपण-पद्धति मे वह अनेकान्त को माध्यम बनाता है। वह आत्मकल्याण को सर्वोच्च ध्येय मानता है। उसके लिए विविध साधनाओ का उपदेश करता है तथा आचरण को प्रधानता देता है। इस प्रकार वह समर्थ और पूर्ण दर्शन बन जाता है।

जैन दर्शन की एक मुख्य विशेषता : आत्म-कर्तृत्व

भारत दार्शनिको और विचारको का देश कहलाता है। अध्यात्म पर जितना मनोमन्थन एव परिशीलन यहा हुआ है सभवत अन्य किसी दूसरे देश में नही हुआ, तभी तो वर्तमान के वैज्ञानिक और पाश्चात्य विद्वान् आज तक आध्यात्मिक क्षेत्र मे भारत को अगुआ मानते हैं और इस विपयक नये आविष्कार की आशा यही से रखते हैं।

भारत मे विविध विचारधाराओ का उद्‌गम हुआ है और उन पर बहुत गहराई से आलोचन-प्रत्यालोचन हुआ है। ये विचार-वीथिया दर्शन के नाम से अभिहित की जाती हैं। प्रत्येक दर्शन मे कोई न कोई मौलिक तत्त्व है। इसीलिए वे आज तक जीवित हैं। जिस विचार मे कोई मौलिकता और उपयोगिता नही होती, वह अधिक दिन जनता का श्रद्धा-भाजन नही रह पाता।

जैन दर्शन आत्म-कर्तृत्व, अहिंमा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद आदि अनेक विशेपताओ का पुज है। पर यहा केवल इसकी एक मुख्य विशेपता पर ही कुछ विचार लिपिवद्ध हैं। जैन धर्म की सवसे वडी विशेपता है, आत्म-कर्तृत्व।

दूसरे कुछ दर्शनो ने जहा कहा—यह आत्मा अज्ञ है, अपने सुख-दु ख के लिए असमर्थ है। मनुष्य का सुख-दु.ख ईश्वर पर निर्भर है। वह चाहे तो उसे स्वर्ग भेज सकता है और वह चाहे तो उसे नरककुण्ड मे भी डाल

सकता है, इस विचार मे व्यक्ति की सारी स्वाधीनता हर ली गई है और उसे नि:सत्त्व वना दिया गया है।

पर जैन दर्शन ने कहा—'अप्पा कत्ता विकत्ताय सुहाणय दुहाणय'—मनुष्य का भाग्य उसके अपने हाथ मे है। अपने सुख-दु ख का वह स्वय ही घटक और विघटक है। वह स्वय ही भले-बुरे कार्य करता है, स्वय उनका फल भोगता है, स्वय ही ससार मे भ्रमण करता है और स्वय उससे मुक्त होता है। अपना निर्माता वह स्वय ही है। उसमे अपनी परिस्थितियो को बदलने की शक्ति है। अपने को महान् और गौरवशाली वनाने का वल है।

ईश्वर-कर्तृत्व जहा मनुष्य को उदास, निराश और श्रम-विमुख वनाता है, वहा आत्म-कर्तृत्व उत्साही और श्रम-परायण वनाता है।

'मेरे भाग्य का मैं स्वय निर्माता हू'—इस विचार-मात्र से मनुष्य मे कर्तृत्व-शक्ति जागृत होती है और एक स्फुरणा प्रवाहित होती है। 'मैं कुछ नही कर सकता,' यह विचार जितना नि.शक्त बनाने वाला है, 'मैं सब कुछ कर सकता हू' यह उतना ही स्फूर्तिमय और आशान्वित वनाने वाला है।

शक्ति कही वाहर से उपलब्ध नही होती। वह तो मनुष्यो के विचारो मे गुम्फित है। शक्ति का विचार ही शक्ति पैदा करता है। अपने आपको अभागा, निर्बल, असहाय और क्षुद्र मानने वाला अपने हाथो से अपनी कब्र खोदता है। मनुष्य अपने विचारो से वहुत दूर नही हो सकता। उसका जीवन अपने सूक्ष्म विचारो की ही परिणति है।

उच्च कल्पना करने वाला और स्वर्णिम स्वप्न देखने वाला मनुष्य अवश्य ही अपने को अपनी भावनाओ के अनुरूप गढ लेता है।

पराधीनता की दशा मे मनुष्य का मन न कोई वडा काम करने के लिए उत्सुक होता है और न उसमे निष्ठा ही जागृत होती है। उसे प्रतिक्षण परतन्त्रता खलती रहती है। आदमी की स्वतन्त्रता उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

आत्म-कर्तृत्व मे हर प्रकार का अवकाश रहता है। मनुष्य अपनी इच्छाओ को ऊंची उठा सकता है और तदनुकूल प्रयत्न करके अपने जीवन को नयी आत्मा दे सकता है। मनुष्य छोटे से बीज को विशाल वृक्ष बना लेता है, यह तभी सभव है जब वह जानता है कि उपयुक्त सामग्री से ऐसा मैं कर सकता हू। अगर वह जानता हो कि इस मामले में मैं कुछ नही कर सकता तो वह कभी उद्योग की ओर नही झुकेगा।

आत्म-कर्तृत्व के आधार पर ही एकदम गरीब मनुष्य भी अनुपम समृद्धिशाली बनता है। अतिशय भोगी भी महान् योगी बनता है। सिंह-सा खूखार भी मा-जैसा ममतामय बन जाता है। कुटिल भी ऋजु बन जाता है और देश-द्रोही भी देश-प्राण बन जाता है।

मनुष्य पर परिस्थितिया प्रभाव डालती हैं। इसका एकदम खण्डन नही किया जा सकता। किन्तु मनुष्य परिस्थितियो का दास नही है। वह उनका स्वामी है, स्रष्टा है, परिपोपक है, परिवर्तक है और उनका विध्वसक है।

वह जब अपने पौरुप को जागृत कर लेता है और कर्तृत्व-बल को पहचान लेता है तब फिर उसके समक्ष कोई बाधा नही टिकती। बड़े-बडे पर्वतो को वह रोद डालता है और महान् सागरो को मथ देता है। सदियो की बेडियो को मिनटो मे तोड देता है। शताब्दियो की दासता से मुक्त हो जाता है।

ये सब क्षमताए केवल आत्म-कर्तृत्व की देन हैं। आत्म-कर्तृत्व जैन दर्शन की मौलिक महत्ता है। उसने मनुष्य को अपना भाग्य-विधाता रखा है, उसके स्वत्व का अपहरण नही किया। इसी आधार पर मनुष्य बन्धन-मुक्तता का अधिकारी होता है और सर्वश्रेष्ठ पद की साधना कर सकता है।

ईश्वर कर्तृत्व-वाद जहा निष्क्रियता और तज्जन्य अक्षमता का निमित्त बनता है, वहा जैन दर्शन का आत्म-कर्तृत्व सक्रियता और सफलता का आयाम उद्घाटित करता है।

जैन दर्शन का कर्मवाद

कर्म-मान्यता

भारत के लगभग सभी दार्शनिको तथा चिन्तको ने कर्मवाद को स्वीकार किया है। भगवान् बुद्ध ने कहा है—कम्मा पुनब्भवो होति[1] कर्म से पुनर्भव होता है—जन्म-मरण की परम्परा चलती है। वैदिक धारणा मे प्रतिपादित है—

'यादृश क्रियते कर्म, तादृश लभ्यते फल'—जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है। महाभारत मे उल्लेख है—"जैसे हजारो गायो मे भी बछडा अपनी मा के पास पहुच जाता है, वैसे ही पूर्वकृत कर्म अपने कर्त्ता का अनुगमन करते हैं।"[2] रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी ने कर्म को ही सृष्टि का मौलिक तत्त्व माना है। उन्होने कहा है—

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि तसु फल चाखा'

यो लगभग भारतीय दर्शनो ने कर्मवाद को पूर्ण समर्थन एव अनुमोदन दिया है, किन्तु कर्मवाद सम्बन्धी उनकी धारणाए भिन्न-भिन्न हैं।

---

१. दी० नि० विभाग, पृ० ४२६

२. यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो याति स्व-मातर
तथा पूर्वकृत कर्म कर्तार मनुगच्छति

—महाभारत, शान्ति पर्व १८१, १६

परिभाषाए पृथक्-पृथक् हैं। फिर भी समन्वय की दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो प्राय तत्त्व-विचारको ने कर्मवाद को माना है—यहा एकत्व है।

कर्म शब्द जिस अर्थ मे जैन दर्शन मे प्रयुक्त हुआ है, कुछ दर्शनो ने उसके स्थान पर लगभग उसी अर्थ मे दूसरे शब्दो का प्रयोग किया है। माया, अविद्या, वासना, अपूर्व, सस्कार, दैव और अदृष्ट आदि शब्द व्यक्त किये गये हैं। आत्मवादी दर्शनो के लिए यह आवश्यक है कि आत्म-बन्धन और आत्ममुक्ति के कारण भूतकर्म को अगीकार करें। शब्द और व्याख्या मे भले ही कोई भिन्नत्व रहे, पर भाव की भूमिका पर वे सब एक ही स्थान पर पहुचते हैं।

जैन दर्शन का अभिमत

जैन दर्शन ने कर्म शब्द को अनेक अर्थों मे व्यवहृत किया है। उनमे दो अधिक व्यापक हैं। एक आचरण के अर्थ मे और दूसरा आत्म-प्रकृति के द्वारा आकृष्ट परमाणु-ग्रहण के अर्थ मे। प्रथम अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—"मनुष्य जन्म से नही, कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है।"[1] जैसे कि समता के आचरण से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य की साधना से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना-मनन से मुनि होता है और तपश्चरण से तापस होता है।"[2] जो मूल कर्म-आचार से शून्य होता है और बाह्य क्रिया करता है वह तद्‌वान् नही हो पाता। "सिर मूड लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ॐ का जापकरने से कोई ब्राह्मण नही होता, केवल अरण्यवास से कोई मुनि और कुश का चीवर पहनने से कोई तापस नही होता।"[3]

---

१ उत्तरा० अ० २५ श्लोक ३१

२ वही, श्लोक ३०

३ वही, श्लोक २९

मूल कर्मवाद

'जैन दर्शन का कर्मवाद' नाम से जो सिद्धान्त प्रख्यात है, मूलत निवन्ध का विपय वही है। जैन दर्शन की कर्मवाद विपयक मान्यता विलकुल मौलिक है, और साथ-साथ वडी वैज्ञानिक भी है। जैन साहित्य मे कर्मवाद के सम्वन्धो मे प्रचुर मात्रा मे वाड्मय लिखा गया है। अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं जो कर्म-स्वरूप, कर्म-प्रकृति, कर्म-स्थिति, कर्म-शक्ति, कर्म-वन्ध के हेतु और कर्म-मोक्ष की प्रक्रिया आदि विभिन्न विषयो पर वहुत मार्मिक और विशद प्रकाश डालते हैं।

भगवान् महावीर के अभिमत मे कर्म का अर्थ है—'आत्मा की सत्-असत् प्रकृति से आकृष्ट होकर कर्म रूप मे परिणत होने वाला पुद्गल समूह'। आत्मा के दो प्रकार हैं—मुक्त और वद्ध। जो आत्माए कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं, वे स्वभाव मे स्थित हैं। वे सर्वदा के लिए समस्त वन्धनो से छुटकारा पा चुकी है। जन्म-मृत्यु के चक्र से वाहर निकल चुकी है। मुक्त आत्माओ मे कोई भेद नही है। वे सव स्वरूप से एक समान हैं। पूर्ण रूप से निरावरण हैं, कर्मों के समग्र आवरण उनके हट चुके हैं। उनका कोई रूप-रग नही है, न उनका कोई लिंग है—"उन्हे कोई उपमा नही दी जा सकती।"[२] वे एक अरूप सत्ता हैं।[४] उनके स्वरूप को कोई भापा नही वता सकती। कोई शब्द उस विशालता को वाध नही सकते। वहा तक पहुचते-पहुचते सव स्वर निवर्तित हो जाते हैं, व्यर्थ वन जाते हैं।[३] परम

---

१ आत्म प्रवृत्त्याकृष्टा स्तत् प्रायोग्य पुद्गला कर्म

—जैन सिद्धान्त दीपिका ४।१

२ उवमा ण विज्जए

—अग सुत्ताणि १, पृ० ४८

३ सव्वे सराणियट्टति —अग सुत्ताणि १, पृ० ४८

४ अरुवी सत्ता —अग सुत्ताणि १, पृ० ४८

आत्माए परिपूर्ण, नि सग और निर्लेप हैं। अपने स्वभाव मे निरत हैं। एकदम ज्योतिर्मय और शाश्वत सुख मे अवस्थित हैं। वे अजर-अमर बन चुकी हैं। उनके लिए कुछ भी करणीय शेष नही रहा है। वे कृत-कृत्य हैं। सिद्ध हैं। हर आत्मा का साध्य उस सहजावस्था तक पहुचना है।

कर्मबद्ध आत्माओ की स्थिति बडी विषम और दयनीय है। उन्हें चतुर गति-रूप ससार मे परिभ्रमण करना पडता है। अनेक रूप-योनि के साथ अनुबन्ध करना होता है।[1] अनुकूल-प्रतिकूल नाना रूप स्पर्शों का प्रति-संवेदन करना पडता है।[2] तरह-तरह के सुखो और दु खो की अनुभूति करनी पडती है। कर्म के सग से जीव समूढ, दुखित और बहुत वेदना वाले बन जाते हैं। उन्हे अपने कृत कर्मो से नरक और तिर्यञ्च योनियो मे भारी कष्ट उठाने पडते हैं।[3]

जीव की विभिन्न परिणतिया कर्मों के आधार पर होती हैं। मौलिक रूप से जीव शुद्ध है, एक स्वरूप वाला है, चिन्मय है। किन्तु कर्म आवरण के कारण उसकी विविध दशाए हो जाती हैं। उसी से उसे अनेक कष्ट सहन करने पडते हैं। स्वर्ण दूसरे अणुओ के साहचर्य से विकृत बन जाता है। अपने रूप को विस्मृत कर दूसरे ही रूप को धारण कर लेता है, उसी प्रकार कर्म-सग से आत्मा भी विचित्र बन जाती है, नट की तरह नये-नये रूप बनाती है। तरह-तरह के अभिनय करती है। पर जब वह कर्म की कारा से मुक्त हो जाती है, तब उसका रूप अप्रतिम हो जाता है। आत्मा की जितनी अवस्थाए होती है, वे सब कर्मजन्य हैं। कर्मोदय और कर्म-क्षयोपशम से ही उसे विभिन्न प्रकार की सामग्री मिलती है।

शुभ कर्म के उदय से जीव को सितारे के समान चमकता जीवन, मधु-सा मधुर व्यक्तित्व मिलता है और अशुभ कर्म के उदय से नमक के समान

---

१ अणेग रूवाओ जोणीओ सन्धेइ—आयारो, पृ० ६
२ विरुव रुवे फासे पडिसे वेदेइ—आयारो, पृ० ६
३. उत्तरा० अ० ३ गा० ६

कडवा जीवन, पत्थर-सा निस्तेज व्यक्तित्व उपलब्ध होता है। कर्मों के आधार पर प्राणी विशाल वैभव और प्रचुर ऐश्वर्य का स्वामी वनता है, और कर्मों के आधार पर ही हीन, दीन, घर-घर भीख मागने वाला भिखमगा वनता है। कर्म से ही स्वस्थ, सुडौल, सुन्दर और आकर्षक शरीर प्राप्त होता है और उससे ही घृणास्पद तन की प्राप्ति होती है। विद्वता, वाग्मिता, गायकता, स्वभाव-मधुरता आदि सद्गुण कर्म-क्षयोपशम और कर्मोदय से मिलते हैं। वैसे ही मूढता, मदता और प्रकृति-चडता भी कर्मों के द्वारा ही मिलती है। व्यक्ति सम्राट भी कर्म से वनता है और दास भी कर्म से ही वनता है।

कर्म का प्रामाण्य

कर्म के अस्तित्व का पुष्ट प्रमाण ससार की विचित्रता और विपमता है, लोक का वैचित्र्य और वैपम्य कर्म-जनित है।[1] कही अत्यन्त सम्पन्नता है, कही सीमातीत विपन्नता है। कही ऐश्वर्य अठखेलिया कर रहा है तो कही दारिद्र्य मासूम वच्चो के प्राण नोच रहा है। कही पडा वेशुमार पकवान सड रहा है तो कही क्षुधाक्रान्त आदमी मर रहा है। कही ऊचा सिर किए हुए और गर्व से सीना ताने गगनचुम्बी अट्टालिकाए खडी है तो कही घास-फूस की जीर्ण-शीर्ण झोपडिया सिसक रही है। कही सुरूपता मद मे झूम रही है तो कही कुरूपता ओधे मुह पडी तडफ रही है। ये सव वैचित्र्य कर्म-सत्ता को प्रमाणित करते हैं। कर्मों के अनुसार ही सयोग और वियोग का यह नाटक रगीन खेल दिखाता है।

कर्मवाद का सबूत उस समय और अधिक प्रखरता एव स्पष्टता से मिलता है जव समान साधन और समान परिस्थिति होने पर भी फल मे वैपम्य आता है। एक ही घर मे और एक ही समय मे जन्मे हुए वन्धुओ मे जव एक सिंहासनारूढ होकर राजा बनता है और एक एकदम असहाय दर-दर का

---

१ कर्मज लोक वैचित्र्य—अभिधर्म कोश ४।१

भिखारी वनता है। एक गुरू के समीप एक समान वातावरण मे तुल्य-भाव और तुल्य-वात्सल्य मे अध्ययन करने वाला एक शिष्य तलस्पर्शी ज्ञानी वन जाता है और दूसरा मतिमद ही रह जाता है। समान स्थितियो, तुल्य परिश्रम और सदृश सहयोग मे भी जब बहुत बडा तारतम्य और विभेद रह जाता है तब अपने-अपने कर्म की कहानी साक्षात् हो उठती है। समान सुविधा और समान सहानुभूति मे भी बुद्धि, विवेक, चिन्तन, स्वास्थ्य, सुख-दु ख मे प्राज्य पार्थक्य रह जाता है, यह सब पूर्वकृत कर्म का परिणाम है। सामान्य घर मे जन्मा और पला-पुसा व्यक्ति तो अतिशय वैभवशाली हो जाता है और लक्ष्मीपति के सिंहासन पर बैठा बिलकुल दीन-दरिद्र बन जाता है। ये सब तथ्य कर्मवाद को उजागर करते हैं।

कर्म की प्रकृति—कर्म आत्मा के स्वरूप को आवृत, अवरुद्ध और विकृत करते हैं। उसके मौलिक गुणो पर आघात लगाते हैं। आत्मा कर्म सयोग से अन्य भाव वाली बन जाती है, फिर भी उसका मूल्य चैतन्य सुरक्षित रहता है। आत्मा की समग्र चेतना कभी भी आवृत नही होती। उसका कुछ अश हर दशा मे अनावृत रहता है। बादल कितने भी सघन हो, सूर्य का अस्तित्व आभासित हो उसका इतना प्रकाश सदा विद्यमान रहता है।

शुद्ध, बुद्ध और एक स्वरूप वाली आत्मा भी कर्मों के योग से अनेक रूपवाली हो जाती है। उसकी दशा तुच्छ और सामान्य बन जाती है। आत्मा अनन्त शक्तियो का स्रोत है विशिष्ट गुणो का पुज है, किन्तु कर्मों के द्वारा उसके मूलभूत गुण आवृत हो जाते हैं। आत्म के आठ मौलिक गुण होते हैं—१ अनन्त ज्ञान, २ अनन्त दर्शन, ३. आत्मिक सुख, ४. क्षायक सम्यक्त्व, ५ अटल अवगहन, ६. अमूर्तत्व, ७ अगुरु लघुत्व और ८ लब्धि।

कर्म पौद्गलिक है। पुद्गल-स्वभाव की अपेक्षा से वे एक हैं। किन्तु आत्मा के आठ गुणो का स्थगन करने की अपेक्षा से उनकी मूल प्रकृतिया आठ मानी गई हैं—१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय,

४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय।

इनका स्पष्टार्थ बोध यो है—

"जैसे—१ जैसे परदा कमरे के भीतर की वस्तु का ज्ञान नही होने देता वैसे ही ज्ञानावरण कर्मज्ञान को रोकने या अल्पाधिक करने का निमित्त है। इसके उदय की हीनाधिकता के कारण कोई विशिष्ट ज्ञानी और कोई अल्पज्ञानी होता है।

२ जैसे द्वारपाल दर्शनार्थियो को राजदर्शन आदि से रोकता है, वैसे ही दर्शन का आवरण करने वाला दर्शनावरण कर्म है।

३ जैसे तलवार की धार पर लगा मधु चाटने से मधुर स्वाद अवश्य आता है, फिर भी जीभ के कट जाने का असह्य दु ख भी होता है, वैसे ही वेदनीय-कर्म सुख-दु ख का निमित्त है।

४ जैसे मद्यपान से मनुष्य मदहोश हो जाता है, सुध-बुध खो बैठता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से विवश जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है।

५ जैसे हलि (काठ) मे पाव फसा देने पर मनुष्य रुका रह जाता है, वैसे ही आयु कर्म के उदय से जीव शरीर मे निश्चित समय तक रुका रहता है।

६. जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्र बनाता है, वैसे ही नाम कर्म के उदय से जीवो के नानाविध देहो की रचना होती है।

६ जैसे कुम्भकार छोटे-बडे बर्तन बनाता है, वैसे ही गोण कर्म के उदय से जीव को उच्चकुल या नीचकुल मिलता है।

८ जैसे भण्डारी (खजाची) दाता को देने से और याचक को लेने से रोकता है, वैसे ही अन्तराय कर्म के उदय से दान-लाभ आदि मे बाधा

---

१ अट्ठ कम पगडी ओ पन्नताओ, तजहा-णाणा वरणिज्ज, दसणावरणिज्ज वेयणिज्ज, मोहणिज्ज, आ उय, नाम, गोत्त, मतराइय।

—प्रज्ञापना २१।१

पडती है। इस तरह ये आठो कर्मों के स्वभाव हैं।"

—समणसुत्त २२।२३

इन आठ कर्मों के अवान्तर १५८ भेद है—ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, वेदनीय के २, दर्शन मोहनीय के ३ और चारित्र मोहनीय के २५, आयुष्य के ४, नाम के ४२, गोत्र के २, अन्तराय के ५—यो ९७ भेद होते हैं। प्रकारान्तर से १५८ भी होते हैं। इन्हे उत्तर प्रकृति कहा जाता है।

कर्म का सम्बन्ध

कर्म का फलित कर्तृत्व मे है। उसका सीधा सम्बन्ध कर्त्ता के साथ ही है। जो जैसा कर्म करता है उसको उसका वैसा ही परिणाम भुगतना पडता है।

"जो अज्ञानी इस जीवन के लिए रौद्र पाप कर्म करते हैं, वे घोराति-घोर तिमिर एव अत्यन्त उत्तापवाली नरक मे पडते हैं।"[1] अपने कृत कर्मों का फल स्वय को ही भोगना पडता है। "प्राणी अपने बन्धुजनो के लिए जो साधारण कर्म (इसका फल मुझे भी मिले और उनको भी—ऐसा कर्म) करता है उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता नही निभाते।"[2] उसमें कोई हाथ नही बंटाते, बटा भी नही सकते। यहा कोई रिश्तेदारी नही चल सकती। अपनी प्रवृत्ति का उत्तरदायी अपने आपको ही होना पडता है।

"व्यक्ति के दु ख को ज्ञाति, मित्र और बन्धु कोई भी विभक्त नही करते, उसे अकेले को ही उसका प्रतिसवेदन करना पडता है क्योकि कर्म कर्त्ता से अनुबन्धित होता है।"[3] महाभारत मे भी कहा है—"एक के किए

---

१ जे केई बाला इह जीवियट्ठी पावाइ कम्माइ करेंतिरुद्द।
ते घोर रुवे तिमि सधयारे तिव्वाभितावे नरय पडति

—सूत्रकृताग अ० गो० ३

२ उत्तरा० अ० ४—गाथा ४

३ उत्तरा० अ० १०—गाथा २३

हुए कर्म का फल कोई दूसरा नहीं भोग सकता। जिसने जो कर्म किए है, उसको ही [उनका परिणाम भुगतना पड़ता है। किसी भी दशा मे उनसे छुटकारा नही मिल सकता, क्योंकि कृत कर्म का नाश नही होता है।"[1] भोगना ही उनका उपाय होता है या साधना से क्षय करना ही उनका उपाय हो सकता है।

कर्म करने मे आत्मा स्वतन्त्र है, क्योंकि हर कर्म उसी के द्वारा उपार्जित है। जो इष्ट या अनिष्ट कर्म किए जा रहे हैं, उन सबकी भूमिका आत्मा ने ही बनाई है। मौलिक रूप से आत्मा ही कर्त्ता है। भव्य से भव्य और अभव्य मे अभव्य कर्म आत्मा ही करती है। सब कुछ आत्माधीन है, पर अज्ञानवश आत्मा ही कुछ कर्माधीन बना देती है। अनन्त शक्ति-शाली स्वतन्त्र आत्मा भी कथचित परतन्त्र बन जाती है।

आत्मा दो प्रकार के कर्मों का बन्धन करती है—दलिक और निकाचित। जिन कर्मों का विपाक अन्यथा हो सकता है, बदला जा सकता है, उन्हे दलिक कर्म कहते हैं और जिन कर्मों का परिणाम अन्यथा नहीं हो सकता, किसी भी प्रक्रिया से परिवर्तन नही किया जा सकता, उन्हें निकाचित कर्म नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि दोनो ही प्रकार के कर्मों की कर्त्ता आत्मा है। कर्म कर्तृत्व-काल मे वह स्वतन्त्र है, परन्तु निकाचित कर्म के फल-भोग के समय वह परतन्त्र बन जाती है।

मकडी जाल स्ववशता से बनाती है, पर कभी-कभी वह स्वय ही उसमें फस जाती है। उसको तोडकर बाहर निकलना उसके सामर्थ्य मे नही रहता। सूर्य अपने प्रचड ताप से आकाश मे बादलो को उठाता है। अपनी

---

१ अन्योहि नाश्नोति कृतहि कर्म,
मनुष्य लोके मनुजस्य कश्चित।
यत्तेन किंचिद हि कृत हि कर्म,
तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाश ॥

—महा पर्व ३ अ० २०७ श्लोक २७

शक्ति से खडा करता है। पर कभी-कभी वह स्वय ही उनसे आच्छादित हो जाता है। उस पर गहरा आवरण पड जाता है। उसका प्रखर तेज आवृत हो जाता है। स्ववश सूर्य की सत्ता भी सघन वादलो से घिर जाती है। उसकी चमक-दमक अकिंचित्कर हो जाती है।

इसी प्रकार अनन्त शक्तिमयी आत्मा भी अपने ही द्वारा कृत कर्मों के अधीन हो जाती है। उसकी कर्तृत्व-शक्ति दव जाती है, मद हो जाती है। किन्तु उसका आगे का प्रयत्न नही रुकता। आत्मा का कर्तृत्व प्रतिक्षण विद्यमान रहता है। इसी आधार पर वह कर्मों को छिन्न-भिन्न करके स्वतत्र हो जाती है।

कर्म और आत्मा का साहचर्य

कर्म और वद्ध आत्मा का साथ अनादिकालीन है। यद्यपि कर्म मूर्त और जडता स्वभाव वाला है, आत्मा अमूर्त और चैतन्य स्वभावी है। किन्तु फिर भी अनादिकाल से इनका सम्वन्ध चला आ रहा है, जैसे स्वर्ण और मिट्टी का, तिल और तेल का तथा अरणी और आग का सम्वन्ध अनादिकालीन है। इनकी कोई आदि नही है, वैसे ही जीव के साथ परपरा-स्वरूप कर्मो के सम्वन्ध की भी कोई आदि नही है। प्रवाह रूप से कर्म सदा आत्मा के साथ रहे है। व्यक्ति कर्म की दृष्टि से कर्मों की आदि भी होती है। आत्मा कर्मवद्ध है, इसीलिए नये कर्मो का वन्धन होता रहता है। कर्म-वद्ध आत्मा कथचित् मूर्त है इसीलिए मूर्त कर्मो का सम्वन्ध चलता रहता है।

आत्मा के साथ कर्म-सम्वन्ध के स्वरूप के विपय मे कई अभिमत है। कुछ आचार्यों की धारणा है कि आत्मा और कर्म का सम्वन्ध क्षीर-नीरवत् होता है। आत्म-प्रदेश और कर्म वर्गणा के अणु एकाकार हो जाते हैं। एकदम घुल-मिल जाते हैं। कुछ कर्म-शास्त्र के ज्ञाता मानते हैं जैसे लोहे के हर कण मे आग के अणु प्रविष्ट हो जाते है। उसी प्रकार आत्म-प्रदेशो मे कर्माणु प्रवेश पा जाते हैं। और कुछ तत्त्व-विशारदो की मान्यता है कि जैसे सर्प पर केंचुली आ जाती है, वैसे ही कर्म आत्मा को आवृत कर लेते हैं।

जैसे यांत्रिक प्रक्रिया से स्वर्ण और मिट्टी को अलग-अलग किया जा सकता है और संघर्षण के द्वारा अरणी से आग प्रकट की जा सकती है तथा यंत्र-प्रयोग से तिल और तेल के कणों को पृथक किया जा सकता है, वैसे ही साधना से आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को भिन्न किया जा सकता है।

कर्मों की फलदान-क्षमता

कर्म स्वयं ही अपने अनुरूप ठीक-ठीक फल दे देते हैं, बीच में किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं। आशंका हो सकती है कि जड़ कर्म उचित फल कैसे दे सकते हैं ? उनमें कौन-सी चेतना होती है, जो उचितानुचित का विवेक कर सके ? किन्तु पराकाष्ठा पर पहुंचे भौतिक विज्ञान के इस युग में यह कोई पहेली नहीं है। सब ऑटोमैटिक चलता है, ठीक समय पर ठीक जगह बम फटते हैं। बिना चालक के वाहन बम बरसाकर वापस अपने स्थान पर निश्चित अवधि में पहुंच जाते हैं। अन्तरिक्ष में आरोपित यंत्र अपने आप धरती पर सूचना भेजते हैं। जड़ पुद्‌गल जड़ पर तो असर करते ही हैं पर वे चैतन्य पर भी असर डालते हैं। बड़ी क्षमता से वे चेतना को प्रभावित करते हैं, यह तथ्य लोक-व्यवहार से अच्छी तरह प्रमाणित किया जा सकता है।

शराब का नशा होते ही चेतना अपना होश खो देती है। मद्यपायी पागलों जैसी हरकतें करने लगता है। उसका विवेक विलुप्त हो जाता है। मरणासन्न व्यक्ति को शक्ति का इन्जेक्शन दे दिया जाए तो एक बार उसकी आंखें खुल जाती हैं और विष का इन्जेक्शन दे दिया जाए तो सदा के लिए बंद हो जाती हैं। पूर्ण चेतनाशील भी जब क्लोरोफार्म सूंघ लेता है तो वह निश्चेतन-सा बन जाता है। अश्रु गैस छोड़ते ही लोगों की आंखों में पानी बहने लगता है। दिल्ली की घटना है, किसी गंदे नाले में सफाई के निमित्त एक-एक करके तीन सफाई-कर्मचारी उतरे थे। वहां की वायु इतनी दूषित और विषाक्त थी कि कितनों की ही मृत्यु हो गई। इसके विपरीत बेहोश पड़े मनुष्य को भी जब शीतल और शुद्ध पवन लगती है तो

उसमे प्राण सचारित हो जाते हैं।

पौद्गलिक अणु अपना कार्य बडी खूबी से करते हैं। भोजन से व्यक्ति की क्षुधा शान्त हो जाती है, जलपान से प्यास मिट जाती है और औषधि-सेवन से व्याधि-शमन हो जाता है। औपधि के रूप मे विष-कणो का प्रयोग किया जाए तो वे रोग को काट देते हैं। किन्तु किसी को समाप्त करने के लिए उनका प्रयोग हो तो वे मनुष्य को मिनटो मे ही मौत की घाट उतार देते हैं। तात्पर्य है जड मे भी अपना अर्थ-क्रिया कारित्व होता है।

कर्मबन्ध के साथ ही फल-दान के सामर्थ्य का भी बन्धन हो जाता है। कर्म-बन्ध के समय चार प्रकार के बन्ध होते हैं—

१ प्रकृति बन्ध—बद्ध कर्म आत्मा के कौन से गुण का आवारक होगा उसका स्वभाव क्या है—इसका निर्णय।

२ स्थिति बन्ध—कितने समय तक उसका बन्धन रहेगा।

३ अनुभाग बन्ध—कर्म किस रूप मे उदय आयेगा—साधारण-दशा मे अथवा विशेप रूप मे। उसका प्रभाव सामान्य होगा या विशिष्ट।

४ प्रदेश बन्ध—दल सचय सघन होगा या विरल।

इन चारो बन्धो को सक्षेप मे यो अभिव्यक्त किया गया है—

"स्वभाव प्रकृति प्रोक्त स्थिति' कालावधारणम् अनुभागो रसोज्ञेयो विपाको दल सचय."

कर्म-बन्ध होने के उपरान्त अन्दर में एक प्रक्रिया चलती रहती है, वह समय पर सब कुछ सम्पन्न कर देती है। बीज बोने के बाद ऊपर तो कुछ दिखाई नही पड़ता किन्तु भीतर एक प्रवाह प्रवाहित होता है और समय पर सब आवरणो को हटाकर बीज अकुरित हो जाता है।

जिस प्रकार के कर्मों का बन्धन हुआ होता है उनके अनुरूप ही उनका फल मिलता है। भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा

---

१ चउव्विहे बधे पन्नते त जहा पगइ बधे ठिइ बधे अणुभाग बधे पएस बधे। —स्थानाग ४।३।२९६

होता है।[1] इसीलिए आत्म-जागृति दी जाती है कि मनुष्य पाप-कर्म से बचें। पाप-कर्म का फल बहुत ही कटुक होता है।

बन्धन पुण्य का हो अथवा पाप का हो, वह बन्धन ही है। बेडी सोने की हो या लोहे की, बन्धन की अपेक्षा से उसमें कोई भेद नही है। दोनो ही जजीरे हैं। दोनो ही जकडती हैं। शुभ कर्म-बन्धन भी आत्मा की मुक्ति मे अवरोध उत्पन्न करते है। इसलिए पुण्य और पाप दोनो ही हेय हैं। दोनो का आवरण हटने से ही आत्मा मुक्त होती है।

कर्म-बन्ध के कारण

कर्म-बन्धन कर्म-बद्ध आत्मा के ही होता है। मुक्तात्मा के कर्म-बन्धन का कोई कारण विद्यमान नही रहता। जीवात्मा जब अपने स्वभाव से स्खलित होकर विभावग्रस्त होता है तब कर्म-बन्धन होता है।

कर्मों का बन्धन मूलत आत्म-परिणामो के आधार पर होता है। पर वस्तु प्रत्ययिक अणु मात्र भी बन्धन नही होता।[2] दूसरे कितने भी निमित्त मिल जाए आत्म-भाव जब तक उनके द्वारा उत्तेजित नही होते हैं, कर्म-बन्ध नही होता। आत्मभाव उन निमित्तो से प्रभावित होते हैं, रक्त अथवा विरक्त होते हैं, तभी बन्धन की क्रिया फलित होती है। निमित्तो मे आत्मा निरपेक्ष रह जाए, किसी प्रकार की कोई चचलता न हो तो उसके कर्म-बन्धन नही होता।

कर्म-बन्धन वस्तु और निमित्त से नही, आत्म-अध्यवसाय से, राग-द्वेषात्मक सकल्प से होता है।[3] "भाव कर्म के बिना नये कर्मों का बन्ध नही होता।"

---

१ सुचिन्ना कम्मा सुचिन्ना फला, दुचिन्ना कम्मा, दुचिन्ना फला।
—औपपातिक सूत्र ५६

२. अणुमित्तो विन बधो, पर वत्थु पच्चओ भणिओ।
—ओघ निर्युक्ति, गाथा ५

३. ण य वत्थु दो, दुबधो, अज्झ व साणेण बधोत्थि—समयसार २६५

कर्म-बन्धन के पाच कारण माने गये हैं। प्रथम है—मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धान। जो सत्य अथवा वस्तु जिस रूप मे है, उससे उल्टा मानना मिथ्यात्व कहलाता है। दूसरा है—अव्रत-वस्तुओ के प्रति मूर्च्छा भाव। तीसरा है—प्रमाद धर्म के प्रति अनुत्सा, चौथा है—कपाय-आत्मा का राग-रोपमय आन्तरिक उत्ताप। पाचवा है—योग मनो वाक्काय की सूक्ष्म या स्थूल क्रिया।

आत्मा के दो प्रकार का बन्धन होता है—शुभ कर्मों का बन्धन और अशुभ कर्मों का बन्धन। दूसरे शब्दो मे पुण्य बन्ध और पाप बन्ध भी कहा जा सकता है। कर्म पुद्गल तो एक ही प्रकार के होते हैं किन्तु आत्म-प्रवृत्ति के अनुसार पुण्य या पाप रूप मे परिणत हो जाते हैं। शुद्ध भाव और शुद्ध क्रिया से पुण्य बन्ध होता है तथा अशुद्ध भाव एव अशुद्ध प्रवृत्ति से पाप का बन्धन होता है। जिसका राग प्रशस्त है, आत्म-परिणाम अनुकम्पा से भीगा है और मन मे कोई कलुप भाव नही है, उस जीव के पुण्य बन्धन होता है। "प्रमादमयी चर्या, मानसिक कलुपता, विपयो के प्रति लोलुपता, पर-परिताप (पर-पीडा) और पर-निन्दा इनसे पाप का बन्धन होता है।"[3] और "जिस साधक का किसी भी द्रव्य के प्रति राग, द्वेप और मोह नही होता, जो समभाव रहता है, उसके न पुण्य का बन्ध होता है और न पाप का।"[4]

---

१ अकुव्वओ णव णत्थि—सूत्रकृताग, १/१५/७

२ रागो जस्स पसत्थो, अणुकपास सिदो य परिणामो।
चित्तम्मि णत्थि कलुस, पुण्ण जीवस्स आसवदि॥

३. चरिया पमाद बहुला, कालुस्स लोलदा य विसयेसु।
पर परितावपवादी, पावस्स य आसव कुणदि॥

४ जस्सण विज्जदि रागो, दो सो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णा सवदि सुह असुद, सम सुह दुक्खस्स भिक्खुस्स॥
—पचास्तिकाय, १३५, १३६, १४२

कर्मों का बन्धन मौलिक रूप से भाव कर्मों के द्वारा होता है। कर्म दो प्रकार के हैं—भाव और द्रव्य। भाव कर्म आत्मा के परिणामो को कहा जाता है।

आत्मा का विभावात्मक जितना परिणमन है, वह समग्र भाव कर्म मे आता है। राग-द्वेष के सस्कार, मोह-ममता-मिथ्यात्व के विकार और कषायो के आवेश—ये सब भाव कर्म हैं, जिनके द्वारा द्रव्य कर्म पुद्गलो का बन्धन होता है। भाव कर्म बीज है। ससार का वृक्ष भाव कर्म के बीजो से खडा होता है। बीज ही न हो तो अकुर उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नही रहती।

द्रव्य कर्म आत्म-परिणामो से व योगो की प्रवृत्ति से आकृष्ट आत्म-सम्बद्ध पुद्गल समूह को कहा जाता है। दोनो का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। भाव कर्म से द्रव्य कर्म का सग्रहण होता है और द्रव्य के उदय से भाव कर्म को उत्तेजन तथा तीव्रता मिलती है। भाव कर्म द्रव्य कर्म का उत्पादक है तो द्रव्य कर्म भाव कर्म का सचालक और प्रेरक बन जाता है। दोनो की अविच्छिन्न परम्परा चलती रहती है। भाव कर्म के बिना द्रव्य कर्म सचय नही होता और द्रव्य कर्म के बिना भावो मे चचलता नही आती। दोनो एक-दूसरे पर आधारित हैं।

आत्मा और कर्म दोनो सर्वथा भिन्न हैं। आत्मा चेतन और अमूर्त है। कर्म जड एव मूर्त है। आत्मा कभी जड नही बनेगी और कर्म कभी चेतन नही बनेंगे। फिर भी जीवात्मा कर्मों से बद्ध है। वह जब कर्मों से मुक्त हो जाती है तब परमात्मा बन जाती है। फिर वह कभी बन्धन मे नही आती। उसका फिर अवतार नही होता। सासारिक प्रपचो के समग्र बीज मुक्तात्मा के प्रणष्ट हो जाते हैं अत पुनरवतार के कारण ही नही रहते।

आत्मा के साथ बद्ध कर्मों का परिणमन तीन तरह का होता है। कुछ कर्माणु आत्मा को आवृत करते हैं जैसे प्रज्वलित दीप के प्रकाश को ढक्कन ढक देता है। कतिपय कर्माणु आत्मा को विकृत बनाते हैं, जैसे दूध में

काजी मिल जाए तो वह विकृत बन जाता है। कुछ कर्माणु आत्म-विकास को अवरुद्ध करते हैं, जैसे कुए के ताला लगा दिया जाए तो उसका जल किसे भी प्राप्त नही होता। अन्दर जल है पर उसका आयात बन्द हो जाता है। इसी प्रकार आत्म-शक्ति होती है, पर वह कर्माणुओ से प्रति-बन्धित हो जाती है।

कर्म-मुक्ति के साधन

भारतीय दर्शनो मे आत्ममुक्ति को सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है। आत्मोदय के लिए सब कुछ का त्याग विहित है। विभिन्न धर्मों ने आत्म-दर्शन की विभिन्न साधनाए और उपासनाए बताई हैं।

जैन दर्शन ने आत्म-मुक्ति के लिए चार साधनो का विधान किया है। उनको जीवन मे चरितार्थ कर कोई भी कर्म-मुक्त हो सकता है। उसमे किसी जाति, लिंग, वर्ण और वर्ग की भेद-रेखा नही है। शुद्ध भाव और शुद्ध आचार ही अपेक्षित है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा
एस मग्गोत्ति पण्णत्तो जिणेहि वर दसीहि

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मुक्ति का मार्ग है। इन चारो की समन्वित साधना से ही कर्म-मुक्ति फलित होती है। चारो मिलकर ही एक साध्य को सिद्ध करते हैं। जैसे हलवा बनाने मे मैदा, चीनी, घी और पानी चारो चीजें अपेक्षित है, उसी तरह ये चारो साधन सापेक्ष होकर ही एक कर्म-मुक्ति के लक्ष्य को साधते हैं, निरपेक्ष होकर नही। अकेली मैदा अथवा घी से हलवा नही बनता।

णाणेण जाणइ भावा दसणेण च सद्धहे
चरित्तेण णिगिण्हाई तवेण परि सुज्झइ

ज्ञान से तत्त्वो को जाना जाता है, दर्शन से उन पर श्रद्धा की जाती है। चरित्र-सयम से असत् कर्मों का निग्रह किया जाता है और तपस्या से

वद्ध कर्मो को तोडा जाता है।

सम्यक्-असम्यक् पुरुपार्थ के आधार पर कर्मों की शक्ति घटती-वढती रहती है। त्याग-तपस्या और साधना निष्प्रयोजन नही होते है। उनके द्वारा कर्मावरण को मिटाया जा सकता है। कषायो की तीव्रता मे कर्मो की तीव्रता और मदता मे मदता फलित होती है। परिस्थितिवश हर पदार्थ की शक्ति का क्षरण अथवा वर्धापन होता है। काष्ठ कपाट को तैल से सींचा जाए और उसकी हिफाजत की जाए तो वह काफी लम्बी अवधि तक टिक सकता है और अगर उस पर पानी गिरता रहे, धूल जमती रहे, कोई सार-सभाल न हो तो जल्दी ही नष्ट हो जाता है। परिस्थिति का वहुत बडा असर पडता है। निश्चित भी परिस्थितिवश टूट जाता है। मजबूत घट पर भी यदि ईंट का प्रहार किया जाए तो वह फूट जाता है। तूफान मे सुदृढ तार भी टूट जाता है। जो फल वृक्ष पर धीरे-धीरे पकता है, उसको दूसरी प्रक्रिया से शीघ्र भी पकाया जा सकता है। लम्बी पडी रस्सी आग से सुलगती हुई वडी देर से जलती है किन्तु उसी को इकट्ठी कर घासलेट डालकर जलाया जाए तो वह मिनटो मे ही जल जाती है।

इसी प्रकार विशिष्ट पुरुषार्थ के द्वारा कर्मो की प्रकृति, स्थिति, रस और दल संचय मे परिवर्तन किया जा सकता है। मनोभावो और योगो की प्रवृत्ति के द्वारा यह सभव हो सकता है। जिस कर्म का फल अत्यन्त कडवा आने वाला हो उसे हल्का बनाया जा सकता है। जिसका दल सचय बहुत सघन हो उसे विरल किया जा सकता है।

वद्ध कर्मों मे प्रयत्न विशेष से परिवर्तन हो सकता है किन्तु उनका फलभोग तो अनिवार्य है। वद्ध कर्मों का उदय अवश्य होता है। उदय दो प्रकार का है—विपाकोदय और प्रदेशोदय। जिसमे फल की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है, उसे विपाकोदय और जिसका केवल आत्म-प्रदेशो में ही अनुभव होता है वह प्रदेशोदय कहलाता है। सव कर्मों का जब क्षरण हो जाता है, आत्मा मुक्त बनती है।

कार्य-निष्पत्ति के पाच कारण

जैन दर्शन ने प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति—ये पाच कारण स्वीकार किये हैं। पाचो का अपना महत्त्व है। किसी एक चीज से कार्य सिद्ध नही हो जाता। पाचो कारणो के योग से कार्य सम्पन्न होता है।

काल—बीज मे वृक्ष उत्पन्न करने की क्षमता है। किन्तु काल सापेक्ष है। वीज वपन करते ही कोई अकुर पैदा नही होता। समयागमन पर वह क्रिया निष्पन्न होगी। कोई कितनी ही कला चलाए और पुरुषार्थ करे, उत्पन्न होते ही वच्ची रसवती कार्य मे मा का हाथ नही वटा सकती। अवस्था परिपाक होने पर ही वह गृह कार्य को सभाल पाएगी। इधर वगीचा लगाया और उधर उसे लहलहाता देखना चाहे, यह सभव नही है।

स्वभाव—अगारे को फूल नही वनाया जा सकता। उसका स्वभाव ही नही है। प्रयत्न के द्वारा स्वभाव को ही प्रकट किया जा सकता है, उसके विपरीत को नही। आम से आम उत्पन्न किया जा सकता है किन्तु कितने ही दीर्घकाल तक पुरुषार्थ कर लिया जाए आक के अणुओ से आम नही निकल सकता। स्वभाव एक स्थिर तथ्य है।

कर्म—सव कुछ कर्मों का फल है। कर्म के अनुरूप ही उपलब्धि होती है। माता-पिता वडा स्नेह रखते हैं, पुत्र को सुखी वनाने के लिए हर क्षण उद्योगशील रहते हैं, किन्तु पुत्र जुआरी वनकर वर्वाद हो जाता है। उनका उद्यम और वात्सल्य कोई कार्य नही कर पाता। कर्मों के अनुसार उसकी दिशा ही भिन्न हो जाती है, जो उसे पतन के गर्त में ढकेल देती है।

पुरुषार्थ—काल, स्वभाव और कर्म सव कुछ होता है पर पुरुषार्थ के विना कुछ भी सिद्ध नही हो पाता। मिट्टी, चाक सव तैयार हैं, कुम्भकार भी वैठा है किन्तु जव तक वह प्रयत्न नही करता, घट का निर्माण नही

हो सकता। निर्माण का सूत्र प्रमुख रूप से पुरुषार्थ के हाथ मे ही है।

नियति—बहुत कठिन परिश्रम और अध्ययन के प्रति तीव्र अध्यवसाय के बाद भी विद्यार्थी उत्तीण नही हो पाता है—यह नियति है। नियति का निर्माता आत्मा का पुरुपार्थ ही है। पर निर्मित होने के उपरान्त नियति स्वतन्त्र हो जाती है। उसका उसी रूप मे फल-भोग करना पडता है। नियति का अर्थ है — निकाचित कर्म। इसके परिणाम को किसी भी प्रक्रिया से अन्यथा नही किया जा सकता।

इन पाच कारणो के आधार पर ही कार्य की निष्पत्ति होती है। निरपेक्ष काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ कुछ भी नही कर सकते। अपने-अपने स्थान पर इन सवका महत्त्व है, कोई किसी से कम नही। इनकी समन्विति से ही कार्य सिद्ध हो सकता है।

पुरुषार्थ का महत्त्व

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया मे वैसे तो इन पाचो का साहाय्य अपेक्षित है, फिर भी पुरुषार्थ का अपना पृथक गौरव है। पुरुषार्थ अन्य साधनो को जुटाने की क्षमता रखता है। पुरुषार्थ बाधाओ को हटाने का उपाय निकाल लेता है। मौलिक रूप से आत्म कर्तृत्व ही बलिष्ठ है। बन्धन और मुक्ति अपने ही कर्तव्य पर अवलम्बित है। बद्ध कर्मों मे भी विशिष्ट पुरुषार्थ के द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है। आत्मा अपने पुरुपार्थ के बल पर ही कर्मों को छिन्न-भिन्न कर मुक्त होती है।

यद्यपि निकाचित कर्मो को भोगने के लिए आत्मा बाध्य है, फिर भी आत्मा का पुरुषार्थ ही विशिष्ट है। भाग्य पुरुपार्थ की ही निष्पत्ति है। भाग्य का घटक पुरुपार्थ है। पूर्व मे जो कर्म किये जा रहे हैं, कल भाग्य बनेंगे। भाग्य की कोई स्वतत्र सत्ता नही। आत्मा ने ही उसे बनाया है और आत्मा ही उसे मिटा भी सकती है, सद्भाग्य को दुर्भाग्य और दुर्भाग्य को सौभाग्य बना सकती है।

आत्मा अपने प्रबल पुरुपार्थ के आधार पर कर्म-फल मे परिवर्तन

ला सकती है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर के कर्म-परिवर्तन के निम्नांकित चार सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—

१ उदीरणा—नियत अवधि से पहले कर्म को उदय मे आना।

२ उद्वर्तना—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति मे अभिवृद्धि होना।

३ अपवर्तना—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति मे कमी होना।

४ सक्रमण—एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति मे सक्रमण होना।

उक्त सिद्धान्तो का आशय यह है कि कर्मफल में पुरुषार्थ के बल पर परिवर्तन किया जा सकता है। तीव्र कर्म-फल को मद और मंद कर्म-फल को तीव्र बनाया जा सकता है। पाप प्रकृति को पुण्य मे परिणत किया जा सकता है। आत्मा सर्वथा दर्बल नही है। वह हर अवस्था मे स्वतत्र भी है। वह अपने पवित्र और प्रबल पराक्रम के बल पर सब कुछ निष्पन्न कर सकती है। हर अवरोध को मिटा सकती है। प्रत्येक बन्धन को तोड सकती है। कर्मवाद उसकी परतत्रता का नही, स्वतन्त्रता का उद्घोष करता है। शुद्ध कर्मो के आधार पर आत्मा निष्कर्म बन जाती है। सदा-सदा के लिए सब बन्धनो से छुटकारा पाकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाती है।

१ महावीर जयन्ती स्मारिका, १९७५, पृ० २

जैन दर्शन तथा गांधी दर्शन में अहिंसा और सत्य

तर्क की कसौटी पर कसी हुई सुसमीक्षित विचारधारा दर्शन कहलाती है। दर्शन समग्र विश्व का एक है। दर्शनो का पार्थक्य एक विवक्षा-विशेप है। सत्य सबका एक होता है, उसके टुकडे नही किये जा सकते। द्वित्व तब तक दिखता है जब तक परिपूर्ण नही जान लिया जाता। समग्र की पहचान होने पर भेद स्वत समाप्त हो जाता हैं, क्योकि हर पूर्णता एक ही स्थान पर पहुचती है। उसका एक ही स्वरूप होता है। उस एकत्व मे अनन्तता समायी रहती है। वह व्यष्टि समष्टि होता है और समष्टि व्यष्टि।

विश्व के दर्शनो मे जैन दर्शन एक व्यापक दर्शन है। उसकी तात्त्विक और आचारिक स्थापनाए बहुत गभीर हैं। जैन दर्शन ने आत्मा, परमात्मा, सत् और सृष्टि के विषय मे तर्कसगत मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर भी उसमे बहुत सूक्ष्म विवेचना उपलब्ध है। जैन दर्शन अति प्राचीन दर्शन है, पर निकट मे उसके प्रवर्तक अथवा प्रभावक भगवान् महावीर हुए हैं। विलास-सुलभ राजपरिवार मे जन्म लेकर भगवान् महावीर ने त्याग, तपस्या और साधना का जीवन बिताया और लोगो को जीवन का सही दर्शन दिया। उनके दृष्टि-बिन्दु के अनुसार जीवन का साध्य भोग नही है, परित्याग है, आसक्ति नही है, अनासक्ति है। भगवान् महावीर की मूल आस्था आत्मवाद पर थी।

उनकी साधना और प्ररूपणा के अनुसार अनन्त शक्तियो की खानि और अक्षय शान्ति का क्षेत्र आत्मा ही है। आत्म-निष्ठा और आत्म-स्वास्थ्य ही विश्व-शान्ति का मूल मन्त्र है। आत्मा ही सब समस्याओ का समाधान है।

महात्मा गाधी के विचारो मे भी यह दृष्टि विकसित है। उन्होने इसे ही सर्वोपरि सत्ता माना है। उन्होने एक आत्मविश्वास के सहारे ही एक महान् साम्राज्य को झकझोर दिया था। कोई शक्ति उन्हे अपने लक्ष्य से विमुख नही कर पायी। जीवन-पर्यन्त वे अपने उद्देश्य मे जुटे रहे। उन्हे न कोई प्रलोभन फिसला सका और न कोई आक्रमण-आक्रोश पथ से विचलित कर सका, क्योकि जिस आत्म-बल पर उन्हे अमर आस्था थी वह उनका बहुत बलवान था। मृत्यु के समय भी उन्होने अपने घातक की कल्याण-कामना की।

भगवान् महावीर और महात्मा गाधी के सिद्धान्तो तथा क्रियाकलापो मे काफी सामीप्य दीखता हैं। यद्यपि काल की दीर्घ दूरी है, भगवान् महावीर गाधीजी से चौबीस सौ वर्ष पूर्व इस धरा पर अवतीर्ण हुए थे। फिर भी दोनो की धारणाओ मे बहुत सामंजस्य है। दोनो का दृष्टिकोण बडा उदार है। दोनो को ही अपने जीवन मे बहुत कष्ट और यातनाए सहन करनी पडी। फिर भी साधना और धैर्य इतना प्रबल था कि युग की चिन्तनधारा मे परिवर्तन कर सके और युग को एक नयी चेतना दे सके तथा जन-जन के श्रद्धा-भाजन बन सके। दोनो की विचार-पद्धति मे और आचरणशीलता मे जो समन्वय है उसी को विश्लिष्ट करना प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

अहिंसा

जैन दर्शन मे अहिंसा सबसे मूलभूत सिद्धान्त है। दूसरे सब महाव्रतो का पालन इसी की सुरक्षा के लिए है। अहिंसा को खेत कहा गया है और अन्य नियमो को इसकी रक्षा के लिए बाड। अहिंसा का अर्थ यहा बहुत विशाल है। प्राणिमात्र को आत्मवत् मानने की प्रतिज्ञा है—आय तुले

पयासु। अहिंसा को ही ध्रुव, नित्य और शाश्वत धर्म कहा है। जो हिंसा करता है, करवाता है अथवा करते हुए को अच्छा जानता है, वह अपनी आत्मा के साथ वैर और वैमनस्य की वृद्धि करता है। ससार के सब जीव जीने की कामना करते हैं, मरना कोई नही चाहता। सब सुख के इच्छुक है, दु ख के नही। ऐसी दशा मे किसी को मारना, सताना, पीडा पहुचाना और उस पर शासन करना पाप है। किसी के प्रति बुरे विचार रखना भी आत्म-अपराध है।

जैन दर्शन के अनुसार बिना किसी भेदभाव के छोटे-बडे सब जीवो के प्रति सयम (समभाव) रखना अहिंसा है (अहिंसा निहुणा दिट्ठा, सव्व भूएसु सजमो)। अपने विरोधी की भी हिंसा सर्वथा वर्ज्य है। विरोध भावना का परिहार करना अनिवार्य है। जब तक मनुष्य मे विरोध भाव रहता है तब तक वह हिंसा-मुक्त नही हो सकता। हिंसा की आग उसके अन्तर्तम मे जलती रहती है। इसलिए केवल निषेधात्मक अहिंसा ही काफी नही, विध्यात्मक अहिंसा की भी अपेक्षा है। जैनागमो मे इस भावना का विकास हुआ और तथ्य उभरा। प्रत्येक प्राणी के साथ मैत्री करो (मेत्ति भूएसु कप्पए), किसी को वैरी मत मानो। जैन दर्शन के अनुसार अहिंसा के साधक का प्रतिज्ञा-मत्र है—"मेरी सब प्राणियो के साथ मैत्री है, किसी के साथ वैर-भावना नही।" विरोधी और विद्वेषी के प्रति जब उक्त भाव मनुष्य के मन मे उत्पन्न हो जाता है तब उसके समग्र व्यवहार मे मृदुता आ जाती है। कोई कटुता नही रहती। उसे एक शान्ति की अनुभूति होती है। इस सबकी प्रतिक्रिया उसके विपक्षी पर भी होती है। उसके मन मे भी सद्भावना और सहानुभूति जागृत होती है। मानव-समाज की शान्ति और भलाई के लिए यह मैत्री-भावना बहुत अपेक्षित है। युद्धो की आग वैमनस्य, विद्वेष और पारस्परिक तनावो के कारण ही भडकती है।

आचाराग सूत्र मे आया है कि कुछ लोग इसलिए मारते हैं कि उन्होने उन्हे मारा है। कुछ इसलिए मारते हैं कि लोग उन्हें मारते हैं। और कुछ लोग इसलिए हिंसा करते हैं कि वे उन्हे आगे मारेंगे। हिंसा के इन तीनो

प्रकारो मे द्वेप, वैर और भय व्याप्त हैं। अहिंसक को निर्द्वेप, निर्वैर और निर्भय होना होगा।

घृणा, कटुता और विद्वेष, ईर्ष्या और सकीर्णता आदि दुर्गुण वैयक्तिक शाति और विकास के तो अवरोधक हैं ही, उससे कही अधिक सामाजिक और राष्ट्रीय अवनति और क्लेश के कारण है। निश्चित ही ये हिंसा के कारण वनते है।

जैन दर्शन ने अहिंसा के सूत्र को वहुत प्रवल, पुष्ट और समर्थ वनाया है। भगवान् महावीर के समय हिंसा का बडा वोलवाला था। चारो ओर हिंसक क्रियाकाण्डो की धूम मची थी। यज्ञो मे मूक प्राणियो की तो वलि दी ही जाती थी, साथ ही सामाजिक विपमता बडे पैमाने पर फैली हुई थी। मनुष्य-मनुष्य मे भेदरेखा खीची हुई थी। किसी को उच्च और किसी को नीच माना जाता था। स्त्रियो की भी वडी दुर्दशा थी।

भगवान् महावीर ने यह हृदयद्रावक दृश्य देखा तो उनका हृदय काप उठा। उन्होंने इस हिंसक वातावरण को परिवर्तित करने का प्रण किया। निर्भय होकर अहिंसक क्रान्ति की। उन्होने उच्च स्वर मे कहा—"याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति"—यह सिद्धान्त गलत है। हिंसा हर अवस्था मे हिंसा ही रहती हैं। वह किसी उद्देश्य से की जाए, उसका हिंसापन मिट नही जाता। जातिवाद का भी उन्होंने खण्डन किया और कहा—त्याग और तपस्या ही विशेष हैं, कोई जाति विशेष नही। उन्होने उद्‌घोपणा की—सव मनुष्य समान हैं, कोई अतिरिक्त अथवा हीन नही। इसी प्रकार उन्होने स्त्रियो को भी पुरुपो के समान वताया। उन्हे भी आत्म-विकास और आत्मोन्नयन का उतना ही अधिकार है जितना पुरुपो को। यो उन्होंने अहिंसक क्रान्ति का विगुल वजा दिया। तात्कालिक स्वार्थप्रवण और रूढिग्रस्त लोग इसे सुनकर वोखला उठे। भगवान् महावीर का विरोध किया किन्तु महावीरकृत क्रान्ति सवके हित मे थी। सवकी भलाई उसमें गर्भित थी। इसलिए उसका व्यापक प्रभाव पड़ा। हिंसा के स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा हुई।

महात्मा गाधी ने अहिंसा का जो प्रयोग किया उसका भी बडे पैमाने पर असर हुआ। भारत मे तो एक नैतिकता की ज्योति जली ही पर साथ ही भारत के बाहर भी उसका प्रकाश फैला। दूर-दूर तक अहिंसा के इस नये प्रयोग की गूज पहुची। विचारक लोग इस प्रक्रिया से आकृष्ट हुए। निशस्त्र लोगो का एक साम्राज्य के साथ यो भिड जाना वास्तव मे एक निराली और दिलचस्प घटना थी। किन्तु यथार्थ बात यह है कि आत्म-शक्ति अनन्त है। वह एटम बमो, तलवारो और हिंसा के तूफानो से क्षत-विक्षत नही हो सकती।

महात्मा गाधी की अहिंसा का स्वरूप भी विशाल था। उन्होने अपनी अहिंसा की परिभाषा करते हुए कहा था—"अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओ से लेकर मनुष्य तक सभी [जीवो के प्रति समभाव (मगल प्रभाव, पृ० ८१)। उनकी अहिंसा किसी समाज या राष्ट्र से बधी नही थी। एक की सुरक्षा मे जो दूसरो को हानि पहुचाए वह अहिंसा शुद्ध नही रह जाती। अपने विरोधियो का भी बुरा न चाहना अहिंसा की सार्थकता है।" गाधीजी ने इसी भावना के आधार पर कहा था कि "मैं भारत की सेवा करने के लिए इग्लैंड या जर्मनी को हानि नही पहुचाऊगा।'

उन्हे अहिंसा पर पूर्ण आस्था थी। मनुष्य की अन्तिम सिद्धि को वे इसी के सन्दर्भ मे देखते थे। एक जगह उन्होने कहा है—"मेरे हृदय मे तो आधी सदी के निरन्तर अनुभव और प्रयोग के बाद इतना नि शक विश्वास है और ऐसा विश्वास पहले से ज्वलन्त हो गया है कि केवल अहिंसा मे ही मानव-जाति का उद्धार निहित है।"

वैर-विरोध और अपराध न हो तब तो अहिंसा स्वय फलित है। किन्तु जब वैर हो अथवा आदमी कोई अपराध कर बैठता है तब मनुष्य अपनी उत्तेजना पर कितना सयम रखता है, इसी पर उसकी सौहार्द भावना की कसौटी होती है। उस दशा मे मनुष्य का धैर्य प्राय डोल जाता है और वह हिंसा पर उतारू हो जाता है। किन्तु वहा दण्ड-विधान कोई वास्तविक हल नही। सुधार के लिए सद्भावना और प्रेम आवश्यक है। बुद्धिमत्ता के

साथ प्रेम और सहानुभूति के व्यवहार से ही अपराधी की सद्वृत्तिया जागृत हो सकती है। कठोर दण्ड केवल अपराधी के लिए ही हानिकारक नही है, बल्कि जेल के कर्मचारियो के लिए और समाज के लिए भी हानिकारक है। इसलिए अहिंसात्मक उपायो से सुधार करना ही एकमात्र मार्ग है।

वैसे तो अहिंसा हर व्यवहार मे माला के फूलो मे धागे के समान ओत-प्रोत है। जीवन का कोई पहलू उससे अछूता नही रहता। किन्तु गाधीजी ने उसका राजनीति मे अभिनव प्रयोग किया था। लोगो की धारणा मे राजनीति एक कूटनीति मात्र है। गाधीजी ने कहा—राजनीति व्यक्ति व समाज को संतुलित बनाने का उपक्रम है। मैं राजनीति मे धर्म की पुट देने का प्रयत्न कर रहा हू। हमारी आखो के सामने और हमारे पीछे राज्य-शासन की कला वर्बरता से परिपूर्ण है, अगर मुझे विरोधाभास की भाषा का प्रयोग करने दिया जाए तो मैं कहूगा कि अभी तो लोगो मे राज्य-शासन की कला का विचार ही नही बना है। शासन कला का उद्देश्य तो यह है कि समाज और व्यक्ति के जीवन की धाराओ में सतुलन और समत्व हो। उक्त विचार पाश्चात्य लोक डान साल्वेओर डीमेड्रिया गा के है। इन्ही विचारो को पुष्ट करने वाले लेनिन के विचार हैं—लोगो को प्राण-दण्ड देना, हृदयहीन होकर उनकी खोपडिया फोडना एक अत्यत निर्दयता-पूर्ण और कठिन कार्य है, जबकि हिंसा को निर्मूल करना ही अन्तिम राजनैतिक आदर्श है। इन सब विचारो का प्रतिफलित यह है कि राज-नैतिक कोरी तिकडमबाजी अथवा शोषण की विधि नही है। वह जनता की भलाई की चीज है। उससे लोगो को सुव्यवस्था, न्याय और शान्ति मिलनी चाहिए। इसलिए महात्माजी ने उसे धर्म से अनुप्राणित करने का प्रयत्न किया।

गाधीजी ने वर्ग-सघर्ष को मिटाने का भी प्रयत्न किया। जातीयता और वर्ग-सघर्ष के कारण समाज और राष्ट्र मे बडी विसंगति आती है। पारस्परिक तनाव किसी भी उन्नति मे अग्रसर नही होने देते। इस

समस्या को उन्होंने सौहार्द और सहानुभूति के बल पर सुलझाया। हरिजन-उद्धार का कार्य बड़ी आत्मीयता से किया। इन सब कार्यों में उनकी व्यापक अहिंसा-निष्ठा और एकत्व की धारणा ही काम करती थी।

महात्माजी के हृदय पर अहिंसा बहुत गहरी अंकित हो चुकी थी, उस पर उनका अविचल विश्वास था। उन्होंने कहा है—"कठोरतम धातु काफी आंच से नरम हो जाती है, इस प्रकार कठोरतम हृदय भी अहिंसा की पर्याप्त आंच लगाने से पिघल जाना चाहिए। और अहिंसा कितनी आंच पैदा कर सकती है इसकी कोई सीमा नही। अपनी आधी शताब्दी के अनुभव में मेरे सामने एक भी परिस्थिति ऐसी नही आयी जब मुझे यह कहना पड़ा हो कि मैं असहाय हूं और मेरी अहिंसा निरुपाय हो गई।"

जैन दर्शन मे सत्य-साधना की बड़ी गरिमा है। सत्य को भगवान् माना है (सच्चं भयवं) और संसार मे उसे ही सारभूत माना है (सच्च लोयम्मि सार भूयं), इसलिए सत्य को जानने की ही प्रेरणा दी गई है (पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि)। अपनी बुद्धि को सत्यान्वेषण मे लगाओ (सच्चम्मिधिइं कुव्वहा) और सत्य मे उपस्थित होकर ही मेधावी मृत्यु का अतिक्रमण करता है (सच्चस उवट्ठिए मेहावी मार तरइ)।

सत्य की परिभाषा भी बड़ी व्यापक है। सत्य का अर्थ है 'सद्भ्यो हित सत्य'—अर्थात् अस्तित्वमात्र का जो हित है—वह सत्य है। सत्य का आशय है यथार्थ, यथार्थ को पहचानना और उसकी साधना करना। यही जीवन का उद्देश्य है। सत्य के निकट पहुंचा व्यक्ति परम पवित्र और भास्वर बन जाता है।

सत्य की पहचान तब होती है जब मनुष्य का चिन्तन उन्मुक्त और आंखें खुली होती हैं। अभिनिविष्ट और आबद्ध व्यक्ति सत्य को नहीं पा सकता। सत्य को कोई अपने घेरे मे बन्द नही कर सकता। वह एक विराट् तत्त्व है। अपने ही विचार को पूर्ण मानने वाला बहुधा आग्रह-ग्रस्त होकर असत्य उपासक बन जाता है।

जैन दर्शन ने वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना है। उसको जानने के लिए अनेक पहलू हैं। वस्तु के किसी एक धर्म पर ही अडना सत्य का तिरस्कार करना है। जैन दर्शन नय दृष्टि के आधार पर हर चिन्तन और धर्म को सत्यांश मानता है।

सत्य जितना गौरवपूर्ण है उतनी ही उसकी उपलब्धि कठिन है। सत्यानुसन्धान मे बहुत-सी बाधाए हैं। ग्रन्थो मे कहा है—सत्य का मुख स्वर्ण-पात्र से ढका हुआ है (हिरण्यमये न पात्रे ण सत्यस्य पिहित मुखम्)। मनुष्य उस तक पहुच नही पाता, बहुधा बाहर ही अटक जाता है। बाहर की चकाचौंध को भेदकर उसके अन्तर्दर्शन पाना महान् अध्यवसाय का विषय होता है। मात्र सत्य की श्रद्धा ही सत्य का द्वार खोलती है।

महात्मा गाधी के विचारो मे भी सत्य की बडी प्रतिष्ठा है। उन्होने भी जैन दर्शन की तरह कहा है—"सत्य से परे और कोई ईश्वर नही है। सत्य ही सर्वप्रथम खोजने की वस्तु है।" एक जगह कहा है, "मेरे निकट तो सत्य ही सर्वोपरि है और उसमे अनगिनत वस्तुओ का समावेश हो जाता है· यह सत्य केवल हमारा कल्पनागत सत्य ही नही है, अपितु स्वतन्त्र, चिर-स्थायी सत्य अर्थात् स्वय परमेश्वर है।"

गाधीजी ने जीवन को सत्य के समर्पित माना है और उसके बिना किसी धर्म, नियम की कल्पना नही की। उनका एक गभीर वचन है—"सत्य की भक्ति के कारण ही हमारी हस्ती हो। उसी के लिए हमारा हर एक काम, हर एक प्रवृत्ति हो, उसी के लिए हम हर सास लें। ऐसा करना हम सीखें तो दूसरे सब नियमो के पास भी आसानी से पहुच सकते है, और उनका पालन भी आसान हो जाएगा। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन नामुमकिन है।" यो गाधीजी ने सत्य को परम धर्म और सर्वोत्कृष्ट शक्ति माना था और उसी आराधना मे आत्मोत्सर्ग कर दिया था।

भगवान् महावीर की दृष्टि में जातिवाद

विश्व मे साम्य की भापणो मे जितनी प्रखर चर्चा चल रही है, व्यवहार मे उस पर उतना ही सवल आघात हो रहा है। विभिन्न वहानो के नाम पर प्राणी एकत्व को विदीर्ण एव छिन्न-भिन्न किया जा रहा है। भगवान् महावीर ने कहा था—"सव प्राणी एक समान हैं, विशालकाय हाथी से लेकर क्षुद्र चीटी तक मे जीवन की समान आकाक्षा है। कीट-पतग, पशु-पक्षी और मनुष्य, सव जीवो को जीवन प्रिय है, सवको ही सुख की कामना है, कोई भी दु ख नही चाहता।"

भगवान् महावीर ने प्राणी-मात्र को एक बताया है पर दूसरे लघु प्राणियो की वात तो बहुत दूर, मनुष्य को मनुष्य से नफरत हो गयी है, मनुष्य-मनुष्य के वीच भी भेद की दीवार खडी कर रखी है। वह माननीय एकता भी स्वीकार नही करता। वहा भी देश, क्षेत्र, रग, लिंग, जाति, धर्म और ऊच-नीच के नाम पर टुकडे कर रहा है। 'मनुष्य-मनुष्य एक है'—इसको खडित कर वैर-विरोधो को उत्पन्न कर रहा है। उग्र तनावो और भीषण उत्तेजनाओ का वातावरण वना रहा है, निर्वल और असहाय मनुष्यो पर अत्याचार ढहा रहा है।

यह विघटन श्रमण भगवान् महावीर के समय मे भी प्रवल वेग से चल रहा था। खासकर जातिवाद की बडी आपाधापी थी। लोग अपनी ही कल्पना से वडे और महान् बने हुए थे। विकास, प्रगति और प्रतिष्ठा के सब अधिकार अपनी मुट्ठी मे वन्द कर रखे थे। 'स्त्री शूद्रो नाधीयताम्' का उद्घोष करके स्त्री और शूद्र को तो एकदम अयोग्य ही ठहरा दिया

था। मनुष्य के लिए अस्पृश्य बन गया था।

भगवान् महावीर ने इस विषाक्त वातावरण को अमृतमय बनाने के लिए शांति का शख फूका। उन्होने उच्च स्वर से उद्घोषणा की—

"कोई भी मनुष्य जन्म से महान् और प्रतिष्ठित नही बनता, गुणो से और उच्च आचरणो से ही व्यक्ति बडा और महत्ता-योग्य बनता है।" उन्होंने जाति-प्रतिष्ठा का निराकरण करते हुए कहा—"कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ। कम्मुणा वइसो होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा।"

(उत्त० २५-३३)

अर्थात् कर्म से ही कोई मनुष्य ब्राह्मण होता है और कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र बनता है।

भगवान् महावीर ने वाहर के मुखौटो पर पूरी चोट की। उन्होने आचरणो का ही मूल्याकन किया। वाह्य वेश का खण्डन करते हुए उन्होने कहा है—

न वि मुडिएण समणो, न ओकारेण बभणो,
न मुणी रण्ण वासेण कुस चीरेण न तावसो

—सिर मुण्डित कर लेने मात्र से कोई श्रमण नही होता, केवल 'ॐ' का जाप करने से कोई ब्राह्मण नही होता, अरण्यवासी होने मात्र से कोई मुनि नही होता और वल्कल-चीर धारण मात्र से कोई तपस्वी नही होता।

समयाए समणो होइ, बभचेरेण बभणो।
नाणेण यमुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥

—अर्थात् समता की साधना से ही मनुष्य श्रमण बनता है और ब्रह्मचर्य की साधना से ब्राह्मण। आत्मज्ञान से ही कोई मुनि बनता है और तप से ही कोई तपस्वी बनता है।

भगवान् महावीर ने निर्भय होकर कहा—यहा प्रत्यक्ष ही तपस्या, सत्कर्म और साधना ही विशेष है, जाति की कोई गरिमा नही है। (चडाल) श्वपाक कुल मे पैदा होकर भी हरिकेश श्रमण तप-कर्म से

महान् बन गए ।

जैन दर्शन का निश्चित अभिमत है कि जाति की कोई ज्येष्ठता नही है, मनुष्य गुणो एव कर्मो से ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बनता है। ("नहि जन्मनि ज्येष्ठत्व, ज्येष्ठत्व गुण उच्चते")

"उदात्त भावना और उदार गुणो के आधार पर ही उच्च जाति का निर्माण होता है। आचार-भ्रष्ट और गुण-शून्य होने पर बडी से बडी जाति भी नष्ट हो जाती है।

वस्तुत तो मानव जाति एक ही है—मनुष्य-मनुष्य एक है। चाहे वह कही का जन्मा हो, किसी रग का हो, किसी जाति का हो, किसी धर्म का हो, इन ऊपर के भेदो से उनमे कोई भेद नही आता। सकीर्ण विचारधारा से व्यर्थ ही मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई खोद दी जाती है। भगवान् महावीर ने भेद की इस खाई को पाटने का प्रयास किया था। टूटी हुई श्रृखला को पुन जोडने की दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। उन्होने कहा था —"नो हीणे नो अइरित्ते"—जाति से न कोई छोटा होता है, न कोई बडा। मनुष्य-मनुष्य सब समान हैं। मनुष्य की एक जाति है (मनुष्य जाति ऐकैव)।

भगवान् महावीर के इस क्रान्तिकारी कदम का समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पडा। लोगो के चिन्तन मे मौलिक परिवर्तन आ गया। भगवान् महावीर के समकालीन प्रबुद्ध चेता भगवान् गौतम बुद्ध ने महावीर के समान ही अपनी आवाज बुलन्द की—

"न जच्चा वसलोहोइ, न जच्चा होति ब्राह्मणो
कम्मुना वसलोहोइ, कम्मुना होति ब्राह्मणो"

—जाति से कोई वैश्य नही होता है और न कोई जाति से ब्राह्मण होता है। कर्म से ही मनुष्य वैश्य बनता है और कर्म से ही ब्राह्मण।

शील, सन्तोप, सयम और सेवा आदि महान् गुणो से ही जाति महान बनती है, केवल जन्म से कोई भी जाति बडी नही होती। यह विचारधारा समाज मे वेग मे प्रवाहित होने लगी। कवि शार्ङ्गधर ने इसी विचार को

पुष्ट करते हुए कहा है—

"गुणानर्चन्ति जन्तूना न जाति केवला क्वचित्
स्फाटिक भाजन भग्न काकिन्यापि न गृह्यते"

—सर्वत्र मनुष्य के गुणो की ही पूजा होती है, केवल जाति की कोईमहिमा और मूल्य नही है। स्फटिक का फूटा हुआ पात्र कोई कानी कौडी मे भी नही खरीदता, विषाक्त हुए दूध का पान कोई नही करता, दुर्गन्ध-ग्रस्त गुलाब के पुष्प को कोई नही सूघना चाहता।

समाज मे मूलत आचार की ही प्रतिष्ठा है। धन, ऐश्वर्य, पद और जाति का कोई महत्त्व नही है। आचार-भ्रष्ट की कोई रक्षा नही कर सकता। वैदिक सूक्त है—"आचार हीन न पुनन्ति वेदा"—आचारहीन को वेद पावन नही बना सकते। उच्च जाति मे पैदा हुआ व्यक्ति भी यदि दुर्गुणी एव दुर्व्यसनी है तो वह साक्षात् चण्डाल ही है, क्योकि चण्डाल कोई जाति से नही, कर्म और व्यवहार से ही बनता है। किसी कवि का बडा मार्मिक पद्य है—

"जपो नास्ति तपो नास्ति, नास्ति चेन्द्रिय निग्रह.
दया दान दमो नास्ति, इति चडाल लक्षणम्"

—जप, तप, सयम, दया और दान आदि कोई भी गुण जिसमे नही है, वह चाहे किसी भी जाति मे जन्मा हो साक्षात् चण्डाल के लक्षणो से युक्त है।

जातिवाद के विरोध मे भगवान् महावीर के आन्दोलन ने बहुत जन-जागरण किया। उसके बाद महात्मा गाधी ने भी व्यापक स्तर पर कार्य किया। फिर भी इस घाव को पूरा भरा नही जा सका है।

आज अस्पृश्यता भारतीय सविधान के द्वारा अपराध घोषित है। शूद्र जाति मे उत्पन्न मनुष्य भी मनुष्य के समान ही होता है। उसके भी उच्च समझी जाने वाली जाति के मनुष्यो के समान महत्त्वाकाक्षाए होती हैं। मानव-मात्र को भी उतना ही समझता है, फिर भी समाज मे आज तक यह समझ नही आयी है कि उसको समकक्ष मानकर मानवीय धरातल का सम्मान दिया जाए और मनुष्य एकता का गौरव बढाया जाए।

भगवान् महावीर और नारी-जागृति

जागरण की लहर

भगवान् महावीर का युग जागरण का युग था। प्रत्येक क्षेत्र जागृति की सुर-सरिता से अभिषिक्त हुआ था। जैसे सूर्योदय होते ही समग्र वातावरण परिवर्तित हो जाता है, सब स्थानो मे प्रकाश पहुच जाता है और समस्त प्राणी जाग उठते है, वैसे ही भगवान् महावीर को आत्मज्ञान होते ही जागरण की एक कमनीय लहर समग्र क्षेत्रो मे दौड गई थी। जीवन का प्रत्येक स्पन्दन पुलकित और झकृत हो उठा था। सब जगह एक नई ज्योति प्रसारित और सचारित हो गई थी। जागरण की लहरी उत्तरोत्तर विशाल बनती गई थी।

तत्कालीन विपर्यय

उस समय सबसे बडा विपर्यय मान्यताओ मे था। सिद्धान्त बहुत ही भ्रामक और विपरीत प्रचलित हो गये थे। आत्मा का तो कोई अस्तित्व ही नही रह गया था। अपने सुख-दु ख का अधीश व्यक्ति नही, किन्तु भगवान् था। मनुष्यो मे इस प्रकार के विचार सप्रेपित किये जाते थे कि वे अपने को हीन-दीन और ईश्वर के हाथ की कठपुतली समझें। जाति-गर्व और जाति-हीनता की कुत्सित धारणा भी बडे विशाल दायरे मे फैली हुई थी। नारी को एक तुच्छ दासी से अधिक कुछ नही माना जाता था। उसके सब अधिकार कुचल दिये गये थे।

महावीर की क्राति

भगवान् महावीर ने इन सब विषयो मे अपने प्रज्ञा व साधना-बल से अद्भुत क्रान्ति की। नए सिरे से सिद्धान्तो की स्थापना कर समस्त जनता को विना किसी भेद-भाव के दिव्य दृष्टि प्रदान की। भगवान् महावीर ने व्यक्ति को उच्च और श्रेष्ठ जाति तथा ऐश्वर्य से नही किन्तु सदाचार एवं सद्गुणो के आधार पर माना।

अपने सुख-दु ख का, उन्नति-अवनति का, प्रगति-प्रतिगति और विकास एव ह्रास का समग्र उत्तरदायित्व व्यक्ति को सौंपा। उसको ही अपने जीवन का निर्माता, अपने भाग्य का विधाता माना और उसे उच्च से उच्च आत्म-विकास के लिए उद्बुद्ध एव उद्युक्त किया।

भगवान् महावीर ने प्राणी-एकत्व तथा प्राणी-समत्व की प्रतिष्ठा की। उन्होने उद्घोषणा की—"प्राणी-प्राणी परम स्वरूप से एक है, सव समान हैं और सबको आत्मिक विकास के लिए सदृश अधिकार हैं। उच्च-नीच की रेखा खीचकर उनमे भेद डालना महापाप है। बडे-छोटे की दीवार खडी करना असामाजिक और अमानवीय है।"

धर्म और ईश्वर के नाम पर मूक प्राणियों की आहुति देना घोर पाप है और निर्बल जीवो पर भीषण अत्याचार है।

नारी-जागृति

भगवान् महावीर की दृष्टि परम सूक्ष्म थी। उसमे अन्तिम सत्य ही प्रतिबिम्बित हुआ था। भेद जो वास्तविक नही है, केवल कल्पना, अज्ञान और विभाव से प्रसूत है, उनकी सम्मति मे कभी नही उतर पाया। आत्मा में उन्हे कभी भेद दृष्टिगोचर नही हुआ। उन्होने कहा—आत्मा आत्मा ही है। "न इत्थी, न पुरुषे, न अन्नहा" (आचाराग)—वह न स्त्री है, न पुरुष और न अन्य कुछ। बाह्य क्षमताओ के आधार पर उसमे भेद नही होता। अन्तिम अर्थ मे वह एक समान है।

भगवान् महावीर की चेतना मे स्त्री-पुरुष का भेद आया ही नही। उन्होने आध्यात्मिक विकास और स्वसाधना के लिए उनमें कोई रेखा नही खीची। जिस परम पद को पुरुष पा सकता है, उसको नारी भी अपने मे प्रकट कर सकती है। भगवान् महावीर ने नारी-स्वातन्त्र्य और नारी-समत्व की घोषणा ही नही की अपितु व्यावहारिक क्षेत्र मे उसकी सफल अवतारणा भी की। राजकुमारी चन्दनबाला जो विक्रीत होकर दासी जीवन व्यतीत कर रही थी, उन्होंने उसे दीक्षित कर ३६००० साध्वियो की मुखिया बनाया।

साधु के समान ही साध्वी को भी हर पद को अधिकारिणी होने का विधान बनाया। उपाध्याया और आचार्या तक के व्यवस्था पद उसके लिए उन्मुक्त किये।

तत्कालीन समाज मे नारी का स्थान

तत्कालीन समाज-व्यवस्था मे नारी पूर्ण रूप से उपेक्षित और पद-दलित कर दी गयी थी। उसका समाज मे कोई स्थान नही रह गया था। वह मात्र भोग की सामग्री समझी जाती थी। उसे शिक्षा के अयोग्य करार दे दिया गया था। 'स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्'—ऐसे अत्याचारमूलक सूत्र ग्रथित किये गये। उसे क्रीतदासी से अधिक कुछ नही माना जाता था। आत्मिक उत्थान और धार्मिक आचरण पर भी उसे कोई स्वतंत्रता नही थी। उसके चारो ओर ऐसी मजबूत दीवारें खडी कर दी गयी थी कि वह अपने विषय मे कोई भी आवाज बुलन्द नही कर पाती थी।

निरन्तर की उपेक्षा और प्रबल आघातो से महिला-समाज मे हीन भावना घर कर गई थी। अपने सामर्थ्य और स्वत्व को उदीप्त तथा विकसित करने का भाव कुण्ठित बन चुका था। अपने औचित्य के विषय मे उसका मन टूट चुका था। समाज का एक सबल अग पोषण के अभाव में अक्षम और बेकार बनता चला जा रहा था।

भगवान् महावीर ने जो कि समत्व के प्रहरी थे, निर्भयतापूर्वक नारी-

जागरण का बिगुल बजाया। उन्होने अनेक महारानियो और राजकुमारियों के जीवन मे चैतन्य की ज्योति जलाई। तुच्छ से तुच्छ अबोध समझी जाने वाली अबलाओ मे भी उन्होने उच्च एव महान् भावनाओ को प्रतिष्ठित किया। साध्वियो के समान ही उनकी श्राविकाओ की सख्या भी वडी विशाल थी। अनेक् श्रमणोपासिकाए धर्म-श्रद्धा और धर्म-दृढता मे अद्वितीय थी एव कुछेक तत्त्वज्ञान और धर्म-चर्चा मे वहुत निपुण थी। सुलसा, जयन्ती, रेवन्ती आदि अनेक श्राविकाए ऐसी थी, जो किसी दिग्गज विद्वान् से भी विना झिझक धर्म-विवाद कर सकती थी। विवाद ही नही, अपने तर्क, श्रद्धा, आचार और प्रतिभा वल से उन्हे निरुत्तर कर उन्हे परास्त कर डालती थी।

जैन धर्म मे स्त्री का गौरव सदा से रहा है। इस अवसर्पिणी काल मे सर्वप्रथम मुक्ति-गमन का श्रेष्ठतम श्रेय श्री ऋषभनाथ स्वामी की मातुश्री मरुदेवा को है, जिन्होने हाथी पर बैठे-बैठे निर्मोह दशा मे उतर-कर कैवल्य प्राप्त किया।

ब्राह्मी, सुन्दरी जो कि आदिनाथ भगवान् की पुत्रियां थी, प्रव्रजित वनकर परम तत्त्व मे लीन हुई। ब्राह्मी के निर्देशन मे तीन लाख साध्वियो का विशाल सघ था। पार्श्वनाथ के काल मे पुष्पचूला साध्वीप्रमुखा थी। उनकी देख-रेख मे ३८,००० साध्विया थी।

मल्लीकुमारी जो उन्नीसवी तीर्थंकर हुई हैं, जैन का सवसे उत्कृष्ट और सर्वोत्तम पद उसने पाया।

राजीमति, जिससे भगवान् नेमिनाथ ने पशुओ का करुण क्रन्दन सुनकर मुह मोड लिया था, विरह-विदग्ध वनकर विभ्रान्त नही वनी, प्रत्युत विवेकपूर्वक परम साध्य के लिए अग्रसर हुई थी और पतित होते रथ नेमि को उद्बोध देकर वचाया था। कितने नाम लिये जाए, अनेक ऐसी सन्नारिया हुई हैं जिन्होने शील मे, सहिष्णुता मे और धर्म-श्रद्धा मे पुरुषों से भी वढा-चढा शौर्य दिखाया है, जिनके उच्च आदर्शों के आगे मस्तक स्वय विनीत हो जाता है।

स्त्री समाज की निर्माता है, नरशिल्पी है और भाग्य-विधाता है। सन्तानो मे संस्कार-निर्माण का कार्य माताओ के हाथ मे ही रहता है। वे जिस मृदुता और सौहार्द मे समाज मे निर्माण का वरिष्ठ कार्य करती हैं, अनेक पिता भी नही कर सकते। किसी कवि ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण उद्गार व्यक्त किये हैं—

"सहस्त्रतु पितॄन् माता गौरवेणाति रिच्यते"

—हजारो पिताओ से एक माता गौरव मे श्रेष्ठ होती है। किसी पाश्चात्य विचारक ने कहा—एक जननी सौ अध्यापको से बढकर संस्कार-शिक्षा देती है।

'मनुस्मृति' मे मनु महर्षि ने भी नारी के प्रति बडी प्रतिष्ठामयी और उच्च भावना प्रकट की है—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" —जहा नारी की पूजा होती है वहा देवता रमण करते हैं। वस्तुत ही नारी समाज का महत्त्वपूर्ण अर्द्धांग है। समाज-विकास के अनुष्ठान मे पुरुष से भी अधिक भूमिका वह अदा करती है। उसे अशिक्षित, उपेक्षित और अधिकारहीन रखना समाज को अर्धांग विकाल बनाना है।

नारी यथार्थ मे सद्‌गुणो का पुंज है। उसकी विमल विशेषताओ पर ही समाज का महाप्रासाद अविचल खडा है। इतिहास साक्षी है, लोगो ने उस पर भीषण अत्याचार किये हैं, पर उसकी सहिष्णुता कभी नही टूटी। कोई भी यातना का सूर्य उसकी सहिष्णुता को उत्तप्त नही कर सकता, विकट से विकट अत्याचार का तूफान उसकी सत्य-श्रद्धा को हिला नही सकता और कोई भी कष्ट का सागर उसके धैर्य को गला नहीं सकता। सहिष्णुता के विषय मे वह पुरुष वर्ग के समक्ष एक उच्चादर्श है।

महिला वर्ग पुरुष वर्ग के समान ही हर कार्य का दक्षतापूर्वक संचालन कर सकता है। आध्यात्मिक, शैक्षणिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक, व्यावसायिक आदि प्रत्येक क्षेत्र मे महिलाएं अपनी अद्‌भुत क्षमता प्रदर्शित कर चुकी हैं। फिर भी पुरुष वर्ग उन्हे समानता का अधिकार नही दे पा रहा है। अपने पैरो तले रोदने की ताक मे बैठा

है। देश-विदेश में नारी-स्वातन्त्र्य के कितने ही आन्दोलन चल रहे हैं, कितनी ही क्रान्ति की चिनगारिया उछल रही हैं, लेकिन पुरुष वर्ग की आत्मा अभी जागृत नही हो पायी।

पुरुष-समुदाय को यह पूर्ण निश्चय कर लेना चाहिए कि नारी के जागरण मे ही समाज-जागरण निहित है। समाज का सर्वांगीण उत्थान एव कल्याण महिला-उत्थान तथा महिला-कल्याण पर ही निर्भर है।

प्रस्तुत वर्ष भगवान् महावीर निर्वाणोत्सव के रूप मे मनाया जा रहा है और साथ ही यह वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष भी उद्घोषित हो चुका है। ऐसे सुअवसर पर पुरुष वर्ग का कर्तव्य है कि नारी को शिक्षा-दीक्षा के लिए उन्मुक्त करे और उसके सर्वांगीण विकास के लिए उसको स्वामित्व सौंपकर समाज को उन्नति के शिखर पर चढाए।

भगवान् महावीर की समत्व-साधना

भगवान् महावीर समत्व-साधना के महान् साधक थे। वे त्रस-स्थावर, छोटे-बडे सब प्राणियो पर समभाव रखने वाले थे। वे निर्लेप और नि सग थे। उनकी दृष्टि मे सब प्राणी आत्म-समान थे। उन्हे प्रिय, अप्रिय, अनुकूल या प्रतिकूल कोई भी परिस्थिति प्रभावित नही कर पाती थी। उनकी आत्मलीनता इतनी गहरी थी कि बाह्य वातावरण वहा तक पहुच ही नही पाता था। अपनी चेतना को उन्होने इस प्रकार केन्द्रित कर लिया था कि उन्हे आत्मा के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर ही नही होता। "लाभालाभ मे, सुख-दु ख मे, जीवन-मृत्यु मे, निन्दा-प्रशसा मे, मान और अपमान मे वे परिपूर्ण समदर्शी थे।" सब अवस्थाए उनके लिए निर्विशेष थी, सामान्य-विशेष की द्वन्द्वात्मक कोई कल्पना उन्हे नही सताती थी।

सामान्य-विशेष, प्रिय-अप्रिय और अनुकूल-प्रतिकूल की भेदात्मक अनुभूतिया पूर्णता की नही अपूर्णता की हैं, अखण्डता की नही खण्डता की हैं। अपना-पराया, छोटा-बडा, हीन-उच्च—ये सब विभक्तिया खण्डित चेतना की क्षुद्र लहरें हैं, अखण्ड की नही। अविभक्त चेतना मे सब समान हैं। सब पर सम दृष्टि है। सब आत्म-तुल्य हैं।

आत्मा की एकाग्रता मे भिन्नता का बोध नही हो सकता। आत्मा जब अपने स्वभाव मे लीन होती है तब कुछ भी बाह्य नही दीखता, कोई भी आकर्षण उसे खीच नही सकता और विकर्षण दूर नही कर सकता।

वैषम्य की अनुभूति आत्मा की एकरसता को भग करती है। मोह

और विद्वेप मूल चैतन्य को आवृत करते हैं, किसी प्रकार की भेदात्मक विकृतिया आत्म-स्वभाव को विकृत बनाती हैं। बन्धन और मोक्ष आत्मा की धारणाए ही हैं। बाहर न कोई बन्धन और न कोई मोक्ष। न कोई सुन्दर, न कोई असुन्दर। हर वस्तु अपने ही स्वभाव मे अवस्थित है। अन्त करण की कल्पनाए उसे विभिन्न स्वरूप प्रदान करती हैं। मन मे मोह हो तो एक चिकने गोल ककर पर भी चेतना ठहर जाती है और मन विरक्त हो तो लाख रुपये का रत्न भी ककर से अधिक कुछ नही लगता। विकार हो तो स्त्री-शव मे भी कामुकता की खोज की जा सकती है और मन निर्विकार हो तो साक्षात् रूपसी भी पौद्गलिक परिणाम के सिवाय कुछ नजर नही आता।

भगवान् महावीर ने अपने मन को दृष्टा बना लिया था। उनका मन हर समय तटस्थ रहता। लाभ-अलाभ, सुख-दु ख को वे दृष्टा भाव से देखते। न लाभ से उल्लास होता और न अलाभ से निराशा। न सुख से हर्ष होता, न दु ख मे विषाद। दर्पण मे पर्वत भी प्रतिबिम्बित होता है और छलाछल सरोवर भी। पर दर्पण न भारी बनता है, न भीगता है। भगवान् महावीर के समक्ष भी रूपवती स्त्रिया मोहक निवेदन करती, वे उनके मधुर वचन सुनते, पर कुछ नही सुनते। उन पर ललित और मदिर शब्दो की कोई प्रतिक्रिया नही होती। मद-विह्वल स्त्रियो के नृत्य भी उनकी दृष्टि के आगे से गुजरते पर उनकी चेतना में कुछ नही उतरता। वे जैसे स्थिर-वृत्ति और आत्म-सलीन होते, वैसे ही रहते। जरा भी चचलता अथवा क्षोभ वहा नही होता।

बाह्य बाह्य को ही प्रभावित करता है। बाह्य ही बाह्य से प्रभावित होता है। आन्तरिक पर बाह्य का कोई असर नही होता। आन्तरिक जब बाह्य से जुड जाता है, बाह्य से प्रकम्पित, प्रवचित और प्रताडित होने लगता है तब वह आन्तरिक नही रह पाता। उसकी स्व-निष्ठता टूट जाती है और उसका स्वरूप विकृत हो जाता है। महावीर की दृष्टि स्वरूप पर टिकी थी। अत उन्हें उससे भिन्न भी दृष्टिगोचर ही नही होता था।

मनुष्य का देखना लक्ष्य के अनुबन्ध में होता है। हम जिसे लक्ष्य बनाते हैं वही हमे दिखायी देता है। सम्पूर्ण चेतना से जब 'स्व' को ही लक्ष्य बना लिया जाए तब फिर 'पर' नही दिखायी देता। लक्ष्य से व्यतिरिक्त दिखायी देता है तो मतलब है लक्ष्य गहराई से बना नही। भटकन और भ्रामकता जारी है। दिशा निर्णीत होने के बाद उससे भिन्न दिशा मे चिन्तन और चरण नही चलता।

भगवान् महावीर आत्म-दर्शन का लक्ष्य निर्धारित करके ही साधना-आरूढ हुए थे। आत्म-दर्शन, दूसरे शब्दो मे आत्म-मुक्ति ही एक ऐसा स्थान है जहा जीव अक्षय-अव्याबाध शान्ति उपलब्ध करता है, जहा जरा, मृत्यु, वेदना, व्याधि और कोई रोग-शोक नही है।" भगवान् महावीर की दृष्टि पूर्ण आत्म-मुक्ति पर टिकी थी। शरीर का तो उन्होंने अन्तर्चेतना मे उत्सर्ग-सा ही कर दिया था। "वोसट्ठ चत्त देहे···मुत्ति मग्गेण अप्पाण भावेमाणे विहरई"—यह उनका स्वल्पकालीन लक्ष्य नही था, निरन्तर का था।

उनकी यह उत्कृष्ट साधना बाधा-क्रान्त और द्वन्द्वग्रस्त न हो जाए इसीलिए उन्होने 'न धर्म प्रचार किया, न उपदेश दिया, न शिष्य मुण्डित किए और न अनुयायी बनाए', किन्तु मौन रहकर सजगता से आत्म-साधना मे लगे रहे।

चिलचिलाती धूप मे और कड कडाती सर्दी मे भी उनकी साधना समभावपूर्वक चलती थी। कैसा भी निवासस्थान उपलब्ध हो उनकी समवृत्ति मे कोई अन्तर नही आता। न निर्जनता का भय सताता, न जन-सकुलता का कोलाहल विक्षुब्ध बनाता। न रमणीय स्थानो मे मोह जागृत होता, न फूटे-टूटे साधारण गृहो मे वितृष्णा विडम्बित करती। अकसर वे निर्जन-झोपडो मे, धर्मशालाओ मे, पानी पिलाने के लिए बनी हुई प्याऊओ मे, लुहार-माली आदि की शालाओ मे, श्मशानो मे, सूने घरो मे और वृक्षो के नीचे अपनी ध्यान-साधना करते। इन स्थानो मे उन्हें अनजान मनुष्यो एव पशुओ द्वारा विविध उपद्रव एव उपसर्ग दिये जाते पर वे सब

समभावपूर्वक सह जाते। उनकी चेतना इन अवसरो पर आन्दोलित नहीं होती।

जब भगवान् महावीर ने "लाट देश (धर्म से अनभिज्ञ प्रदेश) मे विहार किया था तब वहा के निवासी अनार्य लोग उन्हे लकडी से, मुक्के से, भाले के अग्र भाग से, पत्थर से और खप्पर से मारते और 'यह भूत के समान कौन है ?' कहकर चिल्लाते। कभी कुत्ते भगवान् के पीछे लगा देते। वे ध्यानस्थ होते तब उन पर धूल बरसा जाते। कभी उन्हे ध्यान के आसन से डिगाकर नीचे गिरा जाते पर श्रमण भगवान् महावीर हर दशा मे समभाव रखते।"

भोजन के प्रति भी उनका मन वडा सतुलित था। रसो मे उन्हे कोई आसक्ति नही थी। भिक्षा मे भीगा, सूखा, ठण्डा, नीरस, सरस जैसा भी आहार उन्हे मिलता, लेकर अस्वाद वृत्ति से खा लेते।

"वे जब किसी गृह मे भिक्षा के लिए प्रवेश करते उस समय यदि कोई भिखारी, श्रमण, ब्राह्मण, चण्डाल, कुत्ता और बिल्ली द्वार पर या अन्दर खाना खाते देखते तो थोडा भी उन्हे विक्षेप नही करते। तत्काल वापस लौट आते। किसी भी कारण किसी भी जीव को दुख न हो, उनकी साधना का एक प्रमुख अग था। जिस तरह मुझे दुख प्रिय नही है, उसी तरह सब प्राणियो को दुख प्रिय नही है। इसलिए न किसी को सताप दिया जाए और न दिलवाया जाए। यह उनकी अहिसा-साधना थी।"

भगवान् महावीर सजग और समचित्त के स्वामी थे। सब प्रकार के वार सहते हुए भी वे कषाय-रहित अविचल भाव से अपने लक्ष्य पर अडिग थे। वे जीवन-सग्राम के अप्रतिम योद्धा थे। "जैसे सग्राम के मुख्य भाग मे रहने वाला बलिष्ठ हाथी पराक्रमपूर्वक विजय प्राप्त करता है वैसे ही साधक-श्रेष्ठ भगवान् महावीर ने भी आन्तरिक युद्ध मे अहिसा, सत्य और सयम के शस्त्रो से विजय प्राप्त की।

इन्द्रिय-विषयो से पूर्णत. निरपेक्ष बनकर आत्म-ध्यान और आत्म-

योग की सतत साधना के द्वारा उन्होने दिव्य ज्ञान सर्वज्ञत्व प्राप्त किया। उनकी समत्व-साधना फलित हुई। सर्वज्ञ बनने के बाद उन्होने तीर्थ-प्रवर्तन किया। प्राणिमात्र के उदय एव कल्याण के लिए अपना दिव्य सन्देश दिया। उन्होने सर्वप्रथम आस्थावाद की प्रतिष्ठा की।

उन्होने कहा—"यह मत विश्वास करो कि जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष नही है, प्रत्युत विश्वास करो कि ये सब हैं।" आस्थावाद की नीव पर उन्होने आत्मवाद, अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद और अनेकान्तवाद का दर्शन दिया। तीस वर्ष तक वे पैदल परिभ्रमण करते हुए अपना दिव्य ज्ञान जन-जन मे फैलाते रहे। अन्त मे सर्वथा सब बन्धनो का उच्छेद कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

जैन सन्यस्त विद्वानों की संस्कृत-सेवा

जैनो का मूल वाड्मय

जैनो का प्राचीनतम आगम-साहित्य प्राकृत भापा मे है। भगवान् महावीर की प्रकीर्ण वाणी को जब गणघरो ने सूत्र-रूप से ग्रथित किया तब वह गणिपिटक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके मुख्य बारह अग थे। अत उसे द्वादशागी भी कहा गया। गणिपिटक के अतिरिक्त उपाग, मूल, छद, प्रकीर्णक आदि साहित्य भी रचा गया। इनकी गणना भी आगम-साहित्य मे की गई है। उसके पश्चात् उस साहित्य के पल्लवन के लिए आगमो पर व्याख्या-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। जैनो द्वारा निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि रूप मे प्राकृत की विशालकाय साहित्य-राशि है। निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु ने विक्रम की पाचवी-छठी शताब्दी मे 'निर्युक्तिया' लिखी थी। विभिन्न चूर्णिकारो ने विभिन्न समय मे सतरह आगमो तथा अन्य ग्रन्थो पर चूर्णिया लिखी हैं। सातवी शताब्दी के अकेले जिनदास गणि महत्तर की आठ चूर्णिया उपलब्ध हैं।

आगम साहित्य के अतिरिक्त

आगम-साहित्य के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने प्राकृत मे प्रचुर मात्रा मे काव्य-साहित्य तथा कथा-साहित्य भी लिखा है। पादलिप्त की तरगवई, विमलसूरि का पउमचरिय, संघदास गणी की वसुदेव हुण्डी और हरिभद्र की समराइच्च कहा आदि एतद्विषयक महत्त्वपूर्ण कृतिया हैं।

इसके अतिरिक्त व्याकरण निमित्त ज्योतिष, सामुद्रिक और आयुर्वेद आदि विषयो पर भी प्राकृत भाषा मे प्रचुर मात्रा मे साहित्य लिखा गया है।

सस्कृत-साहित्य

जैन साहित्यकारो ने प्राकृत की तरह ही सस्कृत मे भी विशाल साहित्य-सर्जन किया है। उपलब्ध जैन सस्कृत साहित्य मे आचार्य उमास्वाति का तत्वार्थ सूत्र प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। जैन दर्शन का परिचय पाने के लिए आज भी यह ग्रन्थ प्रमुख रूप से व्यवहृत होता है। उमास्वाति का समय तीसरी शताब्दी माना जाता है। उनका यह ग्रन्थ इतना मान्य हुआ कि विविध समयो मे इसकी बीसो टीकाए लिखी गयी। सिद्धसेन, हरिभद्र, अकलक और विद्यानन्द जैसे धुरधर विद्वानो ने भी अपने दार्शनिक मतव्यो की स्थापना के लिए तत्वार्थ सूत्र की टीकाए रची। यहा तक कि अठारहवी शताब्दी मे जैन नव्य न्याय के सस्थापक उपाध्याय यशोविजयजी ने भी अपनी नयी परिभाषा मे इसकी टीका की। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नही होगा कि अधिकाश जैन दार्शनिक साहित्य का विकास तत्वार्थ सूत्र को केन्द्र मे रखकर ही हुआ है।

तदनन्तर तो जैन सस्कृत साहित्य का एक स्रोत ही उमड पडा। विशाल साहित्य का निर्माण हुआ। उस सबका परिचय देना तो एक बडा ग्रन्थ बना डालने जैसा कार्य है।

भारतीय दर्शनो मे नव-जागरण

जब भारतीय दर्शनो मे नवजागरण हुआ तब सभी ओर से खडन-मडन की प्रवृत्ति बढी। युक्तियो का आदान-प्रदान हुआ। इस सघर्ष मे पडकर दार्शनिक साहित्य बहुत पुष्ट हुआ। जैनो ने भी अपने विचारो की सुरक्षा के लिए दर्शन-ग्रन्थ लिखे। उन्होने जब अपनी कलम को दर्शन-शास्त्र की ओर मोडा तो बहुत शीघ्र ही अन्य दार्शनिक ग्रन्थो से टक्कर

लेने योग्य ग्रन्थो का निर्माण हुआ। इस क्रम मे पहल करने वाले प्रचड तार्किक श्री सिद्धसेन दिवाकर थे। आगमो मे विकीर्ण अनेकान्त के वीजो को पल्लवित करने तथा जैन न्याय की परिभाषाओ को व्यवस्थित करने का प्रथम प्रयास उनके ग्रन्थ न्यायावतार मे ही मिलता है। उन्होने जो वत्तीस द्वात्रिंशिकाए रची थी उनमे भी उनकी प्रखर तात्त्विक प्रतिभा का चमत्कार देखने को मिलता है। समन्तभद्र भी इसी कोटि के दार्शनिक गिने जाते है। उनका समय कुछ इतिहासकार चतुर्थ शताब्दी और कुछ सप्तम शताब्दी वतलाते हैं। उनकी रचनाए देवागम स्तोत्र, युक्तनुशासन और स्वयभु-स्तोत्र आदि हैं।

कुछ दर्शन ग्रन्थ

अकलक, विद्यानन्द, हरिभद्र, जिनसेन, सिद्धर्षि, हेमचन्द, देवसूरि, यशोविजय और आचार्यश्री तुलसी आदि अनेकानेक दार्शनिको ने इस क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। दार्शनिक ग्रन्थो मे न्यायावतार, युक्तनुशासन, आप्त मीमासा, लघीयस्त्रय, अनेकान्त पताका, षट्दर्शनसमुच्चय, आप्त-परीक्षा, प्रमाणमीमासा, परीक्षामुख, वादमहार्णव, प्रमेय कमल मार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, स्याद्वादोपनिषद, प्रमाण नयतत्वालोक, स्याद्वाद रत्नाकर, स्याद्वाद मजरी, जैन तर्कभाषा और भिक्षुन्यायकर्णिका आदि के नाम प्रमुख रूप से गिनाए जा सकते हैं।

न्याय ग्रन्थो की तरह ही सस्कृत-व्याकरण के क्षेत्र मे भी जैनो का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। जैनेन्द्र, स्वयभू, शाकटायन, शव्दाम्भोज भास्कर आदि सस्कृत व्याकरणो के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र का सर्वांग, पूर्ण, सिद्ध हेमशव्दानुशासनम् उस क्रम का उन्नत प्रयास कहा जा सकता है। उसके पश्चाद्वर्ती शव्दसिद्धि व्याकरण, मलयगिरि व्याकरण, विद्यानन्द व्याकरण और देवानन्द व्याकरण रहे हैं। ये सव तेरहवी शती तक के हैं। व्याकरण-रचना का यह क्रम वही समाप्त नही हो गया। वीसवी शदी मे तेरापथी श्रमण सघ के विद्वान् मुनि चौथमलजी ने भिक्षु 'शव्दानुशासनम्' नामक

महा व्याकरण लिखकर उस कडी को वर्तमान काल तक पहुचा दिया है और लघु कौमुदी की तरह कालुकौमुदी और तुलसी-प्रभा भी रची गई हैं।

इसी प्रकार कोश-ग्रन्थो मे धनजय नाममाला, अपवर्ग नाममाला, अमरकोश, अभिधान चिन्तामणि, शारदीया नाममाला आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

काव्य के क्षेत्र मे भी जैन विद्वान् किसी से पीछे नही रहे हैं। उन्होने अनेक उत्कृष्ट कोटि के काव्यो की रचना की हैं। उनमे पार्श्वाभ्युदय, द्विसधान काव्य, यशस्तिलक, भरतबाहुबलि महाकाव्य, द्वयाश्रयकाव्य, त्रिशष्टिशलाका पुरुप चरित्र, नेमीनिर्वाण महाकाव्य, शान्तिनाथ महाकाव्य, पद्मानन्द महाकाव्य, धर्माभ्युदय महाकाव्य, जैन कुमार सम्भव, यशोधर चरित्र और पाडव चरित्र की गणना प्रमुख रूप से कराई जा सकती है।

नाटको मे सत्य हरिश्चन्द्र, राघवाभ्युदय, यदुविलास, रघुविलास, नलविलास, मल्लिकामकरद, रोहिणीमृगाक, वनमाला, चन्द्रलेखा विजय, मानमुद्रा-भजन, प्रबुद्ध रोहिणेय, मोह पराजय, करुणा बज्रायुद्ध, द्रौपदी स्वयंवर आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। आचार्य हेमचन्द्र के प्रधान शिष्य रामचन्द्र सूरि ने अकेले ही अनेक नाटको की रचना की थी। उनके नाटक बहुत विख्यात हुए हैं।

नाटको की तरह ही जैन साहित्यकारो ने कथा-साहित्य भी बहुत मार्मिक लिखा है। उपमिति भवप्रपचक, कुवलय माला, आराधना कोश, आख्यानमणि कोश, कथा रत्नसागर आदि कथा-साहित्य द्वारा जैन विद्वानो ने सस्कृत के कथा-साहित्य को भी अपूर्व देन दी। आदिपुराण, उत्तर-पुराण, शान्तिपुराण, महापुराण, हरिवशपुराण आदि ग्रन्थो से उनके पुराण साहित्य की समद्धि को भी अच्छी तरह से जाना जा सकता है।

विविध

इसी प्रकार नीति वाक्यामत, अर्हन्नीति आदि नीतिग्रन्थ, समाधितत्र

योगदष्टि, योगसमुच्चय, योगविन्दु, योगशास्त्र, योगविद्या, अध्यात्म-रहस्य, ज्ञानार्णव, योगचिन्तामणि, योगदीपिका आदि योग सम्बन्धी ग्रन्थ, सिद्धान्त शेखर, ज्योतिष रत्नमाला, गणितिलक, भुवनदीपक, आरम्भसिद्धि, नारचन्द्र, ज्योतिसार आदि ,ज्योतिष ग्रन्थ, छन्दोनुशासन जयकीर्ति छन्दोनुशासन, छन्दोरत्नावली आदि छन्द ग्रन्थ, काव्यानुशासन, अलकार चूडामणि, कविशिक्षा, वाग्भटालकार, कविकल्पनालता, अलकार प्रबोध, अलकार महोदधि आदि अलकार ग्रन्थ और भक्तामर कल्याण मदिर, एकीभाव स्तोत्र, जिनशतक, यमकस्तुति, वीरस्तव, वीतराग स्तोत्र, महादेव स्तोत्र, कार्यमडल स्तोत्र आदि ग्रन्थ अपने-अपने क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे गिनाए जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त जैन सिद्धान्त दीपिका, अश्रुवीणा, उत्तिष्ठित जाग्रत, रत्न परीक्षा, सगीतोपनिषद, सगीतसार, सगीत मडल, यन्त्रराज सिद्धयत्र, चक्रोद्धार, वैद्यसारोद्धार, वैद्यवल्लभ आदि ग्रन्थ भी जैन विद्वानो के विस्तीर्ण ज्ञान-क्षेत्र का वोध कराते हैं।

जैनेतर ग्रन्थो पर टीका-निर्माण

जैन विद्वानो ने वहुत से जैनेतर ग्रन्थो की टीकाए लिखी हैं। साहित्य क्षेत्र मे उनका यह उदार दृष्टिकोण अभिनन्दनीय रहा है। अनेक ग्रन्थो की टीकाओ ने अतिशय ख्याति पायी है। जैनेतर ग्रन्थो पर लिखे गए कुछ प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ इस प्रकार हैं—पाणिनी व्याकरण पर शब्दावतार न्यास, दिङ्नाग के न्याय पर प्रवेशवृत्ति, श्रीधर की न्याय कदली पर टीका, नागार्जुन की योग रत्नमाला पर वृत्ति, अक्षपाद के न्यायसूत्र पर टीका, वात्स्यायन के न्याय भाष्य पर टीका, भारद्वाज के वार्तिक पर टीका, वाचस्पति की तात्पर्य टीका पर टीका, उदयन की न्याय तात्पर्य परिशुद्धि की टीका, श्रीकठ की न्यायालकार वृत्ति की टीका। इनके अतिरिक्त मेघदूत, रघुवश, कादम्बरी, नैषध और कुमार आदि काव्यो की टीकाए सुप्रसिद्ध हैं।

नव्य एव विचित्र प्रयोग

जैन विशारदो ने साहित्य के क्षेत्र मे कुछ ऐसे नए तथा विचित्र प्रयोग भी किए हैं जो उनकी अगाध विद्वता का प्रमाण तो देते ही हैं पर साथ ही अपने प्रकार के केवल वे ही कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ सत्रहवी शती के जैन विद्वान् श्री समयसुन्दर का 'अष्टलक्षी' नामक ग्रन्थ गिनाया जा सकता है। उसमे 'राजानो ददते सौख्य'—इस एक पद के १०२२४०७ अर्थ किए गये हैं। ग्रन्थ के नामकरण मे उन्होंने आठ लाख से ऊपर की सख्या को शायद इसलिए छोड दिया कि भूल से कही कोई अर्थ पुनरावृत्त हो गया हो तो उसके लिए पहले से ही अवकाश छोड दिया जाए। आठ अक्षरो के आठ लाख अर्थ करना प्रतिभा का असाधारण सामर्थ्य ही कहा जाएगा। उन्होंने वह ग्रन्थ स० १६४९ मे सम्राट अकबर की विद्वान-मडली के समक्ष रखा तो सभी विद्वान् उनकी इस विचित्र प्रतिभा से चमत्कृत हुए। शब्दो की अनेकार्थता के लिए यह ग्रन्थ एक प्रतिमान के रूप मे ही कहा जा सकता है।

इसी प्रकार का एक अन्य विचित्र प्रयोग आचार्य कुमुदेन्दु ने अपने भूवलय नामक ग्रन्थ मे किया है। वह ग्रन्थ अक्षरो मे न होकर अको मे है। एक से लगाकर चौंसठ तक के अको का उसमे विभिन्न अक्षरो के स्थान पर प्रयोग हुआ है। वह कोष्ठको मे ही लिखा गया है। उसकी सर्वाधिक विशेषता तो यह है कि उसे यदि सीधी लाइन मे पढा जाए तो एक भाषा के श्लोक पढे जाते हैं और खडी लाइन में पढा जाए तो दूसरी भाषा के। इस प्रकार टेढी लाइनो से पढे जाने पर अन्य भाषाओ के श्लोक सामने आ जाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ अभी कुछ वर्ष पूर्व ही प्राप्त हुआ है। अभी उसे पूर्ण रूप से पढा भी नही जा सकता है। वह एक बृहत्काय ग्रन्थ है और कहा जाता है कि अपने समय के सभी विषयो का उसमे समावेश किया गया है। उसमे उत्तर तथा दक्षिण भारत की भाषाओ ने तो स्थान पाया ही है, अरबी आदि अनेक अभारतीय भाषाओ का भी उसमे

प्रयोग हुआ है। कहा नही जा सकता कि उसके निर्माता कितनी भाषाओ के धुरधर विद्वान थे और कितने विषयो मे उनकी प्रतिभा ने चमत्कार दिखलाया था। वस्तुत ही यह कृति बेजोड है।

सस्कृत-विकास का नया कार्य

जैन विद्वानो ने जैसे सस्कृत साहित्य को अनेक अमूल्य देने दी, वैसे ही उन्होने सस्कृत के लिए एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया—वह था सस्कृत के विकास का और उसे जनभाषा का रूप देने का। उन्होने इसके लिए प्रान्तीय शब्दो को अपनाना प्रारम्भ किया। आगमो की टीकाओ और कृतियो मे प्रान्तीय भाषाओ के शब्द खुलकर अपनाए गये हैं। इन विद्वानो ने व्याकरण के दृढ नियन्त्रण को उतना महत्त्व नही दिया जितना कि भाव-अभिव्यक्तियो को। नये देशी शब्दो तथा धातुओ को अपने साहित्य मे स्थान देकर उन्होने आगामी पीढी के सामने एक मार्ग प्रस्तुत किया। सम्भवत. भारतवर्ष की भाषा-समस्या का समुचित हल इसमे प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार जैनो ने सस्कृत की विशिष्ट सेवा की है और उसके साहित्य भडार को अपनी अनुपम कृतियों से भरा है तथा उसे पुष्ट और प्रसारित करने का प्रयास किया है।

शब्द-प्रमाण

दार्शनिक विचारधाराओ का पुष्टीकरण और विकास प्रमाणो पर निर्भर रहा करता है। प्रमाणो की कसोटी पर यदि वे धारणाए जिन पर दर्शनो के भव्य भवन खडे होते हैं, खरी नही उतरती तो उन दर्शनो के महल ढहते विलम्ब नही लगता। प्रमाणो की कसोटी पर कसे जाने के बाद ही दर्शन का स्वर्ण चमकता है और लोगो को आकृष्ट करता है।

प्रमाणों की सख्या

सभी दार्शनिको ने प्रमाणो का अनिवार्य अवलम्बन लिया है। पर उनके प्रमाण-सख्या-स्वीकरण मे समानता नही। विभिन्न दार्शनिको ने एक से लेकर दस तक प्रमाण माने हैं। सबसे कम प्रमाण नास्तिको ने माने हैं। वे केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। आस्तिक दर्शनो मे जैन दो प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। बौद्धों ने भी दो प्रमाण अगीकार किये हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। वैदिक दर्शनो मे प्रमाणो की तालिका यो है—

१ वैशेषिक दो—प्रत्यक्ष और अनुमान।

२ सांख्य तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

३. नैयायिक चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान।

४ पूर्व मीमासक (प्रभाकर) पाच—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति।

५ उत्तर मीमासक (भाट्ट) छह—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।

पौराणिक इनके अतिरिक्त सभव, ऐतिह्य कालात्ययापदिष्ट तथा प्रातिभ प्रमाण और मानते है। यहा केवल शब्द-प्रमाण के विषय मे कुछ चिन्तन प्रस्तुत किया जा रहा है।

आरम्भ मे वैदिक दर्शनो का शब्द-प्रमाण से तात्पर्य श्रुतियो से ही था । इतर दार्शनिक अपने मौलिक ग्रन्थ को शब्द-प्रमाण मानते थे। किन्तु आगे यथार्थ वक्ता के वाक्य को शब्द-प्रमाण कहा जाने लगा ।

शब्द के भेद

शब्द प्रधानतया दो अर्थों मे प्रयुक्त होता है । प्रथम तो ध्वनि के अर्थ मे जो श्रुतिगम्य होता है, जिसे नैयायिक आकाश या गुण मानते हैं। जैसे—शब्द गुण आकाशम् । दर्शनशास्त्र मे इस ध्वनि का विशेष कोई प्रयोजन नही ।

दर्शन क्षेत्र मे जो अभिप्रेत है वह है—जो वर्णनात्मक-शृखला अभीष्ट आशय को अभिव्यक्ति देती है, उस अभिव्यक्ति देनेवाले शब्द-समूह को शब्द-प्रमाण कहा जाता है।

शब्द का गौरव

शब्द का अपना मौलिक महत्त्व है । शब्द के बिना हम कितना चिन्तन करते है, सोचते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं, वह सुरक्षित नही रह सकता। आज तक जितना विचार-विकास हुआ है और दूसरी प्रगतिया हुई हैं, वे सब शब्द के सहारे ही सुरक्षित रह पायी हैं । विश्व की विकसित दशा शब्द-प्रमाण के आधार पर ही व्यवस्थित और विकासशील है। बिना शब्द-प्रमाण के विश्व का काम नही चल सकता। प्रत्येक व्यक्ति सब कुछ अपने आप जान ले, यह सभव नही है। पग-पग पर हमे दूसरो का विश्वास करना होता है और उनके अर्जित व लिखित अनुभव का सहारा लेना होता है। इसी आधार पर मनुष्य के अनुभवो का लाभ उठाया जा सकता है और मनुष्य शीघ्र अनुभवी तथा ज्ञानी बन सकता है।

एक आशका

कुछ विचारक शब्द-प्रमाण के विषय मे सदिग्ध है। उनका तर्क है कि हम ग्रन्थो के आधार पर जब सत्य को मानेंगे तब रूढ बन जाएगे। नये चिन्तन का द्वार अवरुद्ध होने लगेगा, ऐसी स्थिति मे शब्द-प्रमाण विचार-विकास का अवरोधक हो जायेगा और मनुष्य कुण्ठाग्रस्त बन जायेगा। उस समय उनकी बुद्धि चैतन्य की नही, जड की उपासिका होगी। किन्तु यह आशका वास्तविक नही लगती। शब्द-प्रमाण कमरे मे जले दीपक के समान है, उसके आलोक मे हम वस्तुओ का निरीक्षण कर सकते है और साथ ही चाहे तो कोई नया दीपक भी जला सकते हैं। पूर्व दीपक उसका विरोध नही करता।

प्राय सभी भारतीय दार्शनिको ने शब्द-प्रमाण माना है, फिर भी उनके चिन्तन मे कोई कुण्ठा नही आयी, प्रत्युत खुलकर चिन्तन करने का अवसर उपलब्ध हुआ है। नास्तिक और आस्तिक दोनो दर्शनो ने विपुल उन्नति की है। विभिन्न विचारो मे आदमी को और गहरा मनोमन्थन करने का मौका मिलता है। कहा गया है—"वादे वादे जायते तत्व बोध।" भारतीय दार्शनिक उन्मुक्त चिन्तन के समर्थक रहे हैं।

विचारो की विविधता भटकानेवाली ही क्यो, पर्यालोचनपूर्वक सन्मार्ग दर्शन की द्योतक क्यो नही मानी जाए। पाक-कला-निष्णात व्यक्ति विभिन्न चीजो को मिलाकर एक नयी स्वादिष्ट वस्तु बना लेते हैं। उसी प्रकार विविध मान्यताओ और विचार-सूत्रो से विचारक-वृन्द नया और आकर्षक अभिमत प्राप्त कर लेता है।

यथार्थवादी वक्ता के वाक्य-विन्यास को शब्द-प्रमाण कहा जाता है। यहा पर प्रश्न हो सकता है कि एक मान्यता वालो के लिए जो यथार्थ होता है, वही दूसरी धारणावालो के लिए अयथार्थ हो जाता है। उसका जो सत्य होता है, वह दूसरो के लिए असत्य भी हो सकता है। ऐसी स्थिति मे शब्द-प्रमाण का क्या मूल्य रह जाता है? किन्तु यथार्थवादी के लिए

यह सन्देह ठीक नही है, क्योकि उसे आप्त पुरुष कहा जाता है, जो सब दोषो से अतीत हो, राग और द्वेष से मुक्त हो, किसी प्रलोभन और भय से ग्रसित न हो, ऐसे यथार्थ वक्ता के सम्बन्ध मे कोई गुत्थी नही रह जाती। अनायास वह सबका विश्वासपात्र बन जाता है और शब्द-प्रमाण की सार्थकता विद्यमान रह जाती है। शब्द-प्रमाण का गौरव भारतीय क्षेत्र मे एक दूसरी अपेक्षा से भी रहा है। भारतीय दार्शनिकों की आस्था है कि केवल तर्क के बल पर पूर्ण तत्त्व-ज्ञान नही हो सकता, उसे तो श्रद्धा के बल पर ही पाया जा सकता है।

शब्द-प्रमाण की शर्तें

शब्द-प्रमाण को मानने वाले भारतीय विद्वानो ने उसके साथ कुछ शर्तें भी जोडी हैं। प्रथम शर्त उन्होने यह रखी है कि वह शास्त्र शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत आ सकता है, जो अविषमवादी हो। एक जगह एक तथ्य का मण्डन करें और दूसरी जगह उसका-खण्डन करें, ऐसा ग्रथ विरोधी तथ्यो को प्रकट करनेवाला होता है और विषमवादी कहलाता है। शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत ऐसा एक ग्रन्थ नही आ सकता।

शब्द-प्रमाण की दूसरी कसौटी दार्शनिको ने यह रखी है कि शब्द जो कहे, वह सभव होना चाहिए, असभव नही। कोई शास्त्र यदि मान्यता स्थापित करे कि गधे के सीग और आकाश के कुसुम लगते हैं, तो यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है, ऐसी बात असभव दोप से ग्रसित होती है।

तीसरी शर्त उनकी यह है कि जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण व्यक्त न करे किन्तु शब्द-प्रमाण को उस अलौकिक बात को व्यक्त करना चाहिए। जहा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण काम आते हैं, वहा शब्द-प्रमाण की कोई आवश्यकता नही। इन कुछ शर्तों के साथ भारतीय विद्वानो ने शब्द-प्रमाण को स्वीकृत किया है।

मीमासकों का मत

मीमासको ने शब्द-प्रमाण के विषय मे अपना भिन्न अभिमत दिया। मीमासा दर्शन के प्रबल समर्थक कुमारिल के आधार पर शब्द नित्य है। इसी प्रकार उसका अर्थ भी नित्य है। अर्थ और शब्द का सम्बन्ध भी नित्य है। नैयायिको के अनुसार शब्द का अर्थ ईश्वर की इच्छा पर निर्भर रहता है, किन्तु मीमासक उन दोनो मे स्वाभाविक और अनादि सम्बन्ध मानते हैं। जिस शब्द का जो अर्थ होना चाहिए, वही उसका अर्थ हो सकता है, दूसरा नही। वह सुविधा के लिए मानने की चीज़ नही, किन्तु शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है।

शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिए मीमासको ने कई युक्तिया दी हैं। ससर की वस्तुए पहले थी और उनका नाम बाद मे रखा गया, यह मत मीमासको को मान्य नही है। वस्तुओ और उनके नामो मे पहले क्या था, यह बताना असभव है। शब्द वर्ण समूह का नाम है। प्रत्येक वर्ण व्यापक निरवयव है, अतएव नित्य है।

वर्ण नित्य है, इसके पक्ष मे एक महत्त्वपूर्ण युक्ति है कि किसी वर्ण का उच्चारण होते ही हम पहचान लेते हैं कि अमुक वर्ण है, एक ही नित्य वर्ण का बार-बार उच्चारण होता है। वर्ण ध्वनि नही है, ध्वनि वर्ण के उच्चारण का साधन मात्र है। ध्वनि मे वर्ण की अभिव्यक्ति मिलती है, ध्वनि वर्ण नही। ध्वनि ऊची-नीची, धीमी और तेज हो सकती है, परन्तु इससे वर्ण मे भेद नही पडता।

वर्णों के समुदाय को शब्द कहते हैं। शब्द वर्णों का समूह मात्र है। वह अवयवी है। फिर भी अर्थ की प्रतीति के लिए वर्णों मे ठीक क्रम होना आवश्यक है अन्यथा 'नदी' और 'दीन' मे अर्थ-भेद न होगा। शब्दो का अर्थ व्यक्ति को नही, जाति को बताता है। 'गो' शब्द का अर्थ है गोत्व जाति। चूंकि जातिया नित्य हैं, इसलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। यदि शब्द नित्य न हो तो गुरु शिष्य को पढा भी न सकें। "गाय

जाती है" यह कहने मे गाय शब्द का उच्चारण पहले होता है। इसके साथ ही गो शब्द नष्ट हो जाए तो अर्थ कुछ भी समझ में न आए। नष्ट हुआ शब्द अर्थ का ज्ञापन नही कर सकता। ज्ञाप्य और ज्ञापक एक समय मे होने चाहिए। वर्ण सदैव सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। उच्चारण से उनकी अभि व्यक्ति मात्र होती है। इसलिए यह तर्क कि वर्णों की उत्पत्ति और नाश होता है, वह अनित्य है, यह ठीक नही है। एक शब्द का बहुत से लोग बहुत-सी जगह उच्चारण करते हैं, न कि अनेक शब्दो का। शब्द नित्य और व्यापक है, तभी अर्थ-ज्ञाप्ति होती है अन्यथा एक शब्द से अर्थ की प्रतीति सब जगह नही हो सकती।

मर्यादा-मीमांसा

सुख का स्रोत स्ववशता से प्रवाहित होता है और दु ख का परवशता से[1]। यह केवल बौद्धिक तथ्य नही अपितु अनुभूति का एक उच्छ्वास है। स्ववशता आत्मा की मुक्त अवस्था है और परवशता बन्धनमय। मनुष्य के अशेष प्रयत्न दर्शन, सस्कृति, विज्ञान और कला आदि विभिन्न उपक्रमो की जननी स्वस्वरूपोपलब्धि अर्थात् बन्धन-मुक्तता ही है[2]। सर्व दु ख-विमुक्ति के लिए ही मनुष्य पराक्रम करता है।[3]

मर्यादा की उत्पत्ति

मर्यादाओ का आविर्भाव बन्धन-मुक्ति के लिए हुआ। मर्यादा के अभाव मे व्यक्ति का मन नाना वासनाओ से घिरा हुआ और आबद्ध रहता है। वदी कभी उन्मुक्त आनन्द का उपभोग नही कर सकता। हर प्रवृत्ति मे सयत रहकर ही मनुष्य सुसमाहित भाव को पा सकता है। उखडा मन और उत्शृखल व्यवहार उसकी मुक्ति मे सहायक नही हो पाते[4]। सकल्पो के वशीभूत मन पग-पग पर विषाद को पाता है।[5]

---

१ सर्वं परवश दु ख सर्वमात्मवश सुखम्—अध्यात्मोपनिषद्-२-२२

२ शमार्थं सर्वशास्त्राणि, विहितानि मनीपिभि ।

३ सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमति महेसिणो—दशवैकालिक अ० ३

४ छन्द निरोहण उवेइ मोक्ख

५ पए पए विसीयतो सकप्पस्स वसगओ

—द० अ० २ गाथा २

मर्यादा की परिभाषा

निरन्तर प्रगति तथा अप्रतिहत-विकास के लिए जो सुनिश्चित रेखाए खीची जाती है, उन्हे मर्यादा कहा जाता है। अथवा सुरक्षा और गतिशीलता के लिए जो विधि-निषेध के नियम होते हैं उन्हे मर्यादा के नाम से पुकारा जाता है। आत्मा-रक्षा मनुष्य का परम कर्तव्य है। आत्म-सुरक्षा के लिए सर्वस्व-त्याग तक को विहित किया गया है। अरक्षित आत्मा नाना योनियों मे भ्रमण करता है और कष्ट-परम्परा मे गिर जाता है। सुरक्षित आत्मा सव दु खो से मुक्त हो जाता है।[१]

मर्यादा किसके लिए ?

मर्यादा की अपेक्षा अपूर्ण के लिए है, पूर्ण के लिए नही। पूर्णत्व प्राप्त कर जो स्वभाव सस्थित हो गया, उसके लिए कोई मर्यादा की आवश्यकता नही। जैसा कि उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है—"स्वय समर्थ एव विशिष्ट ज्ञानी के लिए न शास्त्र की अपेक्षा है और न मर्यादा-नियामकता की[२]। उनका चिन्तन ही शास्त्र होता है और आचरण ही मर्यादा।"

क्योकि उनका चिन्तन और व्यवहार कभी सत्य के प्रतिकूल नही जाता। ऐसे व्यक्तियो को जैन परिभाषा मे कल्पातीत और वैदिक वाड्मय में त्रिगुणातीत कहा जाता है।[३] छोटे तथा असमर्थ वृक्षो की सुरक्षा के लिए

---

१ अप्पाहु खलु सयम रक्खियव्वो, सव्विदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइ-पह उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥
—द० चूलिका गा० २६

२ न च सामर्थ्ययोगस्य, युक्त शास्त्र नियामकम्।
कल्पातीतस्य मर्यादाप्यस्ति न ज्ञानिन क्वचित्॥
—अध्यात्मोपनिषद्, अ ३

३ निस्त्रैगुण्ये पथिविचरता को विधि को निपेध।

लोहे के तारो अथवा ईंटो का गोल वृत्त बनाया जाता है पर जो पादप अपनी जडो को गहरी जमा लेते हैं, उनके लिए गोल वृत्त की अपेक्षा नही रह जाती। विधि-निषेधपरक मर्यादाए सामान्य साधक के लिए होती हैं, पूर्ण और विशिष्ट के लिए नही।[1]

मर्यादा का महत्त्व

विद्युत यदि तारो के भीतर रहकर बहती है तो वह अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है। अनेक लोगो को प्रकाश दे सकती है। भीमकाय यत्रो का सचालन कर सकती है। किन्तु वह जब किसी विशेष कारण से अपनी मर्यादा को तोडकर बिखर जाती है तो चारो ओर आतक फैला देती है।

बाध का पानी अनेक खेतो को सींचता है, देश के लिए फसल पैदा करता है तथा जनता की प्यास बुझाता है। अपनी मर्यादा में रहकर वह सब उपयोगी कार्य करता है। पर बाध यदि अपनी सीमा का उल्लघन कर दे तो भीषण तबाही मचा देता है। अनेक लोगो के प्राण लूट लेता है और अनेक को दर-दर का भिखारी बना देता है। ऐसे ही मर्यादायुक्त मनुष्य अपना तथा पराया कल्याण करता है, राष्ट्र के समक्ष आदर्श रखता है। पर मर्यादाहीन अपने व्यक्तित्व को तो समाप्त करता ही है पर साथ ही वह समाज या देश के लिए भी सिरदर्द बन जाता है। उसकी स्वच्छन्द वृत्तिया हर जगह कठिनाइया पैदा करती हैं और गन्दगी फैलाती हैं। वस्तुत मर्यादा और संयम ही जीवन की कला है।[2]

---

१ विधयश्च निषेधाश्च तत्वज्ञाननियन्त्रिता.।
बालस्यैवागमे प्रोक्तो नोदेश. पश्यकस्ययत् ॥

—अध्यात्मोपनिषद्, अ ३

२ तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीवइ सजम जीविएण।

—दशवैकालिक चूलिका।

मर्यादा के लाभ

मर्यादा के अनेक लाभ हैं। उससे अनूठी उपलब्धिया होती हैं। मर्यादा जीवन के सभी पक्षो को स्वस्थ एव शक्तिमान् बनाती है। सक्षेप मे उसके लाभ को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ मानसिक स्वास्थ्य
२ सघर्ष-निराकरण
३ आत्म-रक्षा
४ गति-सहायकता

मर्यादा का प्रथम लाभ है—मानसिक स्वास्थ्य। मर्यादा पालने वाले का मन सदा स्वस्थ एव शान्त रहता है। उसमे सकल्प-विकल्पो की उद्दाम तरगें नही उठती। विक्षोभ उसको आक्रान्त नही कर सकता।

जो विविध मर्यादाओ के माध्यम से अपने आपको नियमित बना लेता है उसका मन प्रतिक्षण भटकता नही। उसमे स्थिरता बनी रहती है क्योकि उसके लिप्साओ और कामनाओ की सीमा होती है। जिसके लोकैषणाओ का बाहुल्य होता है, वही मनुष्य दिन-रात चिन्ता मे व्यग्र रहता है। निस्पृह व्यक्ति के दौड-धूप नही होती।

मनुष्य के साथ आशा का अनुबन्ध बहुत गहरा है। प्रतिपल वह अपनी आशाओ की पूर्ति के लिए व्याकुल रहता है। जब वे पूरी नही होती, निराशा हाथ लगती है तो उसका मानसिक सन्तुलन एकदम बिगड जाता है। ऐसी स्थिति मे कही-कही पर तो मनुष्य आवेशवश पागल तक बन जाता है।

सघर्ष-निराकरण

मर्यादा का दूसरा लाभ है—सघर्षो का निराकरण। मर्यादानिष्ठ व्यक्ति मे सघर्ष की कोई सम्भावना नही रहती। सघर्ष की स्थिति तभी बनती है जब व्यक्ति सन्धियों को भग कर उत्शृखल आचरण करता है।

पथ जनसकुल होता है; आदमी यदि निर्णीत सीमा मे चलता रहे, अपनी साइड का ध्यान रखे तो टकराव नही हो सकता। पर जो निर्धारित नियमो को तोडने पर उतारु होता है वह सघर्ष की स्थितिया पैदा करता है।

आत्म-सुरक्षा

मर्यादा का तीसरा लाभ आत्म-सुरक्षा है। मर्यादित कभी विनष्ट नही होता। उसकी शान्ति सदा बनी रहती है। वह कभी क्षीण नही होती। मर्यादा विघटित होने पर शक्ति बिखर जाती है। नदिया जो अपने तटो के बीच बहती है, लाखो वर्षों तक उनका अस्तित्व विद्यमान रहता है।

सयमनिष्ठ राजीमति ने अपने व्यग्य-वचनो से स्वय को तथा पतन-गर्त मे गिरते रथनेमी को बचा लिया था।[1]

जो कूर्म अपने अंगो को सुगुप्त रखता है वह जीवन को बचा लेता है और असयत मृत्यु को प्राप्त होता है।[2]

गति-सहायकता

मर्यादा का चतुर्थ लाभ गति-सहायकता है। मर्यादित वस्तुए सदा सक्रिय एव गतिशील रहती है। उनकी गति का वेग बढता चला जाता है और वे अपनी अभीष्ट मजिल को प्राप्त कर लेती हैं।

"रेल यदि अपनी सुदृढ और सीधी पटरियो पर चलती रहे तो उसकी गति मे प्रबल वेग आ जाता है। अपने करेंट से स्पृष्ट और स्वस्थान से

---

१ तीसे सो वयण सोच्चा सजयाइ सुभासिय।
अकुसेण जहा नागो धम्मे सपडिवाइओ॥

—द० अ० ३ गा० २०

२. जहा कुम्मे स अगाई, सए देहे समाहरे।
एव पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

सम्बद्ध रहे तो विद्युत व्यजन की वेगवत्ता विस्मयजनक हो जाती है।

मर्यादा के प्रकार

सभी मर्यादाओ का लक्ष्य एक होते हुए भी वे अनेक प्रकार की होती हैं। सक्षेप मे उन्हें तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ मानसिक मर्यादा
२ शास्त्रीय मर्यादा
३ सघीय मर्यादा

मानसिक मर्यादा

अपने जीवन का सबसे ऊचा कलाकार मनुष्य स्वय ही होता है। उसके सुख-दु ख की समग्र सृष्टि उसी के हाथ मे होती है।[1] निश्चय-दृष्टि से दूसरा उसे न तार सकता है और न डुबो सकता है।

आत्मोत्थान की चेतना भी किसी दूसरे मे उतनी स्फूर्त नही हो सकती जितनी कि उसमे होती है। अत स्वेच्छा-कृत नियमन का सबसे अधिक महत्त्व है।[2]

मर्यादाओं मे मानसिक मर्यादाए सर्वोत्तम होती हैं। ये मन की उपज और मन द्वारा विहित होती हैं। ये व्यक्ति के प्रबुद्ध और विवेचक व्यक्तित्व से उद्‌बुद्ध होती हैं। अत वह इनके पालन मे स्वय जागरूक रहता है। हो सकता है मानसिक मर्यादाओ का किसी को भान तक न हो पर वह उन्हे पूरी आस्था के साथ पालता है। ये व्यक्ति के स्वभाव का अंग

---

१ स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फल मश्नुते।
स्वय भ्रामति ससारे, स्वय तस्माद् विमुच्यते॥

२ वर मे अप्पा दन्तो सजमेण तवेण य।
माहिं परेहिं दमन्तो बन्धणेहिं वहे हिय।

—उ० अ० २ गा० २६

बन जाती हैं।

मानसिक मर्यादाओ का जीवन मे जितना ज्यादा विस्तार होता है उसमे उतना ही अधिक निखार आता है और ऊपरी मर्यादाओ का दबाव हटता है। इन मर्यादाओ की कोई सख्या नही हो सकती।

शास्त्रीय मर्यादा

शास्त्रीय मर्यादाए वे होती हैं जो विशिष्ट ज्ञानियो, पारगत अनुभवियों एव सिद्धप्राय साधको के द्वारा बनाई जाती हैं। ये मर्यादाए मूल गुणो का सरक्षण और पोषण करनेवाली होती हैं। ये बहुत व्यापक और अपरिवर्तनीय होती हैं। क्षेत्र, समय और परिस्थिति का इन पर कोई असर नही होता। ये त्रिकालवर्ती और क्षेत्रातीत होती हैं। ये सब मुमुक्षुओ के लिए समान रूप से आचरणीय होती हैं। इनमे किसी तरह का भेदभाव नही होता।

सघीय मर्यादा

सघीय मर्यादाए सघ-प्रमुख या सघ-सदस्यो के द्वारा सगठन की दृढता के लिए बनाई जाती हैं। सघ की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे तथा वह अपने उद्देश्य मे निरतर गति करती जाए, इसके लिए जो विधि-निषेध के नियम गढे जाते हैं, उन्हे सघीय मर्यादा या सघ सविधान के नाम से अभिहित किया जाता है।

ये मर्यादाए परिवर्तनशील होती हैं। आवश्यकतानुसार इनमे परिवर्तन परिवर्धन और सशोधन होता रहता है। इन मर्यादाओ की लगाम अगली पीढी के हाथ मे रहती है। इनकी काट-छाट होते रहने से ये उपयोगी बनी रहती हैं।

लकीर का फकीर बने रहना अन्धता और जडता का प्रतीक है जहा चेतना को स्पन्दित होने का अवसर नही मिलता वहा प्राणवत्ता न

जिस सम्प्रदाय मे पुरातन के नाम पर अनुपयोगी रूढियो का समर्थन किया जाता है, वह सघ वर्तमान युग की गतिविधि को नही पहचान पाता। परिणाम यह होता है कि वह युग से पिछड जाता है, उसके सदस्य नियमावली के प्रति उदासीन हो जाते है अत युग-चेतना के साथ सघीय मर्यादाओ मे परिवर्तन अनिवार्य रहता है। सघ के नियम करवट लेते रहे तभी उसमे युग को प्रभावित करने की योग्यता बनी रहती है, अन्यथा वह सघ पुराणपन्थी रूढियो का सग्रह मात्र रह जाता है।

मर्यादा-साम्य

बाह्य मर्यादाओ की सबसे बडी विशेषता उनकी समता होती है। जो मर्यादाए सबके लिए हो, किसी को कोई छूट नही देती, उनके लिए हर मर्यादा-पालक को सन्तोष रहता है पर नियमो मे जब विविधता आती है, कुछ के लिए कोई नियम हो और कुछ के लिए नही, तब उन मर्यादाओ के प्रति अनास्था उत्पन्न हो जाती है। एक के पग-पग पर बन्धन हो और दूसरे के लिए कही रुकावट न हो—ऐसी मर्यादा-व्यवस्था कभी निभ नही सकती। अवश्य ही वहा अन्दर से विद्रोह फूटता है और शासन-व्यवस्था भग हो जाती है।

मर्यादा को जब तक मनुष्य आचार के रूप मे ग्रहण करता है और अपने कर्तव्य की कसौटी समझता है तब तक वह उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखता है तथा उसको निभाने के लिए बलिदान करता चला जाता है।

पर जब वह यह समझता है कि यह आचार नही, मेरे पर अत्याचार हो रहा है, मुझे दबाया जा रहा है और मेरे विकास को अवरुद्ध किया जा रहा है, तब वह शासक और मर्यादाओ के प्रति अनास्थाशील बन जाता है और भार-रूप उन सारे बन्धनो को छिन्न-भिन्न करने के लिए प्राणो का बलिदान देने तक के लिए उतारू हो जाता है।

मर्यादा का जाल

मयादाए जीवन के लिए होती हैं, जीवन मर्यादाओ के लिए नही। मर्यादाए वे ही हो सकती हैं जो जीवन-विकास मे सहायक हो। जिनसे व्यक्ति का मानस बोझिल होता हो वे मर्यादा की कोटि मे नही आती।

अति की सर्वत्र वर्जना की गई है। मर्यादाओ का भी जाल नही होना चाहिए। मकडी के जाल के समान जब बाह्य मर्यादाओ का जाल बिछ जाता है तो आदमी उसमे उलझ जाता है, निकल नही पाता। नियमो का आधिक्य उन्हें तोडने के लिए विवश कर देता है।

प्याले मे पानी भरा जाए तो वह एक सीमा तक बाहर नही निकलता, पर भरने वाला विवेक न रखे तो आखिर पानी बाहर निकलेगा, इसमे कोई संदेह नही।

मर्यादा-निष्ठा

किसी भी नियम का पालन बिना निष्ठा के नही हो सकता। किसी को महत्त्वपूर्ण और आवश्यक माना जाता है तभी अन्त करण का झुकाव उधर होता है और उसमे आकर्षण दीखता है। जो बात मन पर छा नही पाती, उसके लिए मनुष्य कभी कष्ट सहने के लिए और विपत्तिया उठाने को तैयार नही होता।

औदासिन्य और अवज्ञा के भाव मन मे रहते हुए उसके प्रति श्रद्धा नही जाग पाती। जहा श्रद्धा नही होती वह कार्य कभी भी उच्च भाव से नही किया जा सकता।

हर मर्यादा को उच्च और हितकारी मानने की भावना से ही उसमे माहात्म्य प्रतिष्ठित होता है। जो मर्यादा को तुच्छ या नगण्य समझता है

वह अवश्य ही नियमहीन होकर तुच्छ बन जाता है।[1]

शासक-शासित सम्बन्ध

मर्यादा-पालन मे शासक-शासित सम्बन्ध का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। शासक में स्नेह, सौहार्द और वात्सल्य हो तथा शासितो मे शील, सरलता एव विनीतता हो तो पारस्परिक सम्बन्ध अपने आप मधुर एवं स्नेहमय बना रहता है। शासितो की शक्ति का सदुपयोग होता रहे, उनके अधिकारो का हनन न हो, विकास का बराबर अवकाश मिलता रहे तो तनाव की स्थिति बहुत कम आती है और शासितो को सन्तोष बना रहता है।

मनुष्य जैसे अपने शरीर के हर अवयव को काम मे लेता है, कडे से कडा परिश्रम उनसे करवाता है। पर साथ ही उनकी सुरक्षा और परिपोषण का भी पूरा ध्यान रखता है। किसी भी दशा मे उनकी उपेक्षा नही करता।

वैसे ही शासक यदि अपने शासितो के प्रति आत्मीय भाव रखे, उनके विकास और प्रगति के लिए सदा जागरूक रहे, हर अनुशासन को सौहार्द के माध्यम से चलाए तो शासितो का समर्पण स्वय फलित होता है।

किसी भी शासन के नियमो को बलपूर्वक नही निभाया जा सकता। धर्म-शासन मे तो यह सिद्धान्त विशेष रूप से लागू होता है। मर्यादाओ का पालन मन-गृहीत होने पर ही हो सकता है। आत्मार्थी और नीतिवान् व्यक्ति ही शासन-भार को वहन करने के योग्य होते हैं।

मर्यादा-पालन मे शासितो की दृष्टि मे भी बडा भेद रहता है। एक अनुशासन को माता-पिता द्वारा किए गए प्यार के समान देखता है, उसमे

---

१. कुर्यात् तुच्छत्व बुद्धियो, मर्यादाया महामद ।
तुच्छत्व प्राप्नुयाल्लोके, सोति शीघ्र समन्तत ॥
—कर्त्तव्य षट्त्रिंशिका

आत्मीय भाव देखता है पर दूसरा अनुशासन को दास के साथ किए गए व्यवहार के तुल्य मानता है।[1]

एक व्यक्ति कठोर अनुशासन को भी हितकर और समाधिकारक मानता है किन्तु दूसरे की दृष्टि मे वह निरी तर्जना का भाव होता है।

उपसहार

जैसे अनावृत अथवा दुराच्छादित गृह के निवासियो को वृष्टि का निरन्तर सक्लेश बना रहता है, वैसे ही अमर्यादित को राग-द्वेष के सवल थपेडो का खतरा बना रहता है।[2]

भयकर विषधर और नित्य सक्रुद्ध वैरी जो अनिष्ट और बिगाड नही कर पाते, वह मर्यादाहीन आत्मा स्वय कर लेती है।[3]

इसीलिए जीवन मे मर्यादा की परम आवश्यकता है। जो अपने जीवन को मर्यादाओ के माध्यम से सयत बना लेता है, वह जीवन को अमृत से सीचता है।[4]

मनोयोगपूर्वक मर्यादा-पालन समस्त निर्बलताओ को दूर हटाकर सामर्थ्य के अमन्द प्रवाह को सचारित करता है।

मर्यादा जीवन का शृगार, समाधि का अनन्य द्वार, समस्याओ का सशक्त समाधान और अखिल शक्तियो का प्राण है।

---

१ पुत्तो मे भाई नाइत्ति, साहु कल्याण मन्नइ।
पावदिट्ठीओ अप्पाण, सास दासेत्ति मन्नइ॥
—उ० अ० २ गा० ३

२ यथा अगार दुच्छन्न, वुट्ठि समितिविज्जति।
एव अभावित चित्त, रागो समितिविज्जति॥ —रागवग्ग-२३

३ नतत्कुयादहि स्पृष्ट सर्पो वाप्यति रोपित।
अरिर्वा नित्यसक्रुद्धे, यथात्मा दमवर्जित॥

४ सनियम्य तदात्मानममृतेनाभिसिंचति। —पद्मपुराण

आंतरिक अहिंसा के विकास की चार विधियां

वर्तमान मे मनुष्य की क्षेत्रीय दूरी दिन-प्रतिदिन सिमटती जा रही है। पहले जहा वह महीनो मे पहुचता था अब दिनो मे और जहा दिनों मे पहुचता था अब घटो मे पहुचने लगा है। वैज्ञानिक उन्नति ने उसकी बाह्य सब परिधिया समाप्त कर दी। सारे व्यवधान हटा दिये। अब वह यहा बैठा ही चन्द्रमा तक की खबर ले लेता है, और उसका चेहरा देख लेता है। छह करोड मील दूर वाले शुक्र ग्रह को भी वह निकट करने के प्रयत्न मे है। शीघ्र ही अब उसके लिए अभियान कर रहा है।

मनुष्य बाह्य रूप मे जितना विशाल बना है, अन्तरग मे उससे अधिक संकीर्ण हुआ है। उसकी आत्मीयता की परिधि बहुत ही सकुचित हो गई है। वह एकदम स्व-केन्द्रित होता जा रहा है। वह अपने ही सुख-दु ख की चिन्ता में मग्न रहता है। विश्व, देश, समाज और पडोस से मुक्त बनकर उसने अपनी सीमा परिवार तक सीमित कर ली है। पर अपने इस बौने रूप से वह कभी आकर्षक और महनीय नही बन सकता। न कोई सुखानुभूति भी कर सकता है। अपनी सकुचित मनोवृत्तियो के कारण वह बहुत ही तनावग्रस्त और विक्षिप्त-सा रहता है। सकीर्णता के कारण उसकी मानस-ग्रन्थिया विश्रृंखल और जड बन रही हैं। उसकी भावना अपने मे ही इतनी अधिक उलझ गई है कि उसको एक अजीब कसमसाहट हो रही है। यह सब उसकी स्व मे ही सिमटने की प्रवृत्ति का परिणाम

है।

मनुष्य जितना ही स्वार्थ-निष्ठ होता है, वह उतना ही लघु और निरुपयोगी वन जाता है। गन्ने की गाठ मे कोई रस नही रहता। ऐसे ही शरीर मे भी जब किसी रोग विशेष के कारण मास की ग्रन्थिया वन जाती हैं तव शरीर का विकास तो दूर उलटा विनाश कर देती हैं। इसी प्रकार गाठ वना मनुष्य भी राष्ट्र या समाज का हित-साधक नही प्रत्युत हित-बाधक वन जाता है। न वह समाज से रस ले पाता है और न समाज उससे। दोनो का सम्बन्ध-विच्छेद-सा हो जाता है। सचमुच ही मनुष्य की यह दशा मनुष्य के स्वय के और राष्ट्र के लिए विघातक है। यह सब मनुष्य के अहिंसा-विकास के अभाव मे होता है। इसलिए अहिंसा का विकास नितान्त आवश्यक है। अहिंसा का दिखाऊ विस्तार तो स्वल्प प्रयत्न से हो जाता है, किन्तु यथार्थ मे उसका विकास होना बडी साधना का विपय है।

जैन ग्रन्थो मे अहिंसा के आन्तरिक विकास की चार विधिया वताई गई हैं, जिन्हे भावनाओ के नाम से अभिहित किया गया है। चार भावनाए निम्नाकित हैं—मैत्री, प्रमोद (मुदिता), कारुण्य (करुणा) और माध्यस्थ्य (उपेक्षा)।

मैत्री-भावना

अहिंसा के आतरिक विकास की प्रथम विधि है मैत्री। आदमी स्व मे ही तन्मय रहता है। अपने ही सुख-दु ख की चिन्ता उसे व्यथित किया करती है। उससे ऊपर उठकर बाहर झाकने की वृत्ति उसमे नही रहती। अपने ही उत्थान-पतन की चारदीवारी मे वह बन्द रहता है। मैत्री भावना उसकी वृत्तियो को व्यापक बनाती है। इस भावना से मनुष्य का आत्मीय भाव वृद्धिगत होता है और वह सौहार्द-सम्पन्न बनता है।

मैत्री का अर्थ है मित्रता। मनुष्य जब किसी के साथ मित्रता का सम्बन्ध महसूस करता है तो उसके हित की चिन्ता करने लगता है।

प्राणिमात्र के हित का जो विचार है वह मैत्री भावना कहा जाता है। कोई प्राणी पाप न करे, कोई किसी का बुरा न करे और कोई भी प्राणी दु खी न हो, ससार के सब प्राणी सुखी बनें, सबका कल्याण हो, कोई भी अमगल न देखे। इस प्रकार का उदात्त चिन्तन मैत्री भावना के अन्तर्गत आता है। यही चिन्तन व्यक्ति को समष्टि से सम्बद्ध करता है। मनुष्य की यह वैचारिक विराटता उसकी असकीर्ण आत्मीयता की परिचायक है, जो अहिंसा का विध्यात्म पहलू है।

प्रमोद भावना

अहिंसा की दूसरी विधि है प्रमोद भावना। साधारण व्यक्ति की यह एक आन्तरिक दुर्बलता होती है कि वह किसी की उन्नति नही देख सकता। किसी की समृद्धि और चढती देखकर वह ईर्ष्या करने लगता है। अपने मन मे एक कुढन उत्पन्न कर लेता है। जिस स्तर तक वह स्वय नही पहुच पाता है उस स्तर को ही लाछित करना चाहता है। 'अगूर खट्टे हैं' की कहावत को चरितार्थ करता रहता है। यह सब व्यक्ति के असस्कृत मानस का उफान है, छिन्न व्यक्तित्व का द्योतक है तथा आतरिक हिंसा का बलिष्ठ पहलू है।

मनुष्य जब किसी के प्रति ईर्ष्यालु भाव रखता है तो उसे गिरने या मिटाने के विचार भी अपने अवचेतन मन मे पनपाने लगता है और जो अन्त करण मे पनपने लगता है वह एक दिन फूटकर बाहर भी आ जाता है। अतः इस कमजोरी को, मिटाना आवश्यक है। प्रमोद भावना इसे परिवर्तित कर देती है।

प्रमोद भावना मनुष्य मे एक सृजनात्मक पहलू पैदा करती है। वह मनुष्य के दृष्टिकोण मे मौलिक परिवर्तन कर देती है।

प्रमोद भावना का अर्थ है—जिन व्यक्तियों मे जो अच्छाइया हैं, जो सद्गुण हैं और जो योग्यताए हैं उन्हे देखकर प्रसन्न होना। मन मे प्रमोद की अनुभूति करना।

मनुष्य का मन जब किसी वस्तु के प्रति आकृष्ट होता है, उसमे अच्छाई देखता है तब उसकी ओर अनायास झुकने लगता है। उसको पाने के प्रयत्न मे सलग्न हो उठता है। जिस चीज के प्रति आकर्षण की भावना जितनी तीव्र होती है, उसको उपलब्ध करने का प्रयास भी उतना ही प्रबल होता है।

प्रमोद भावना वाला व्यक्ति दूसरो के सद्‌गुणो और क्षमताओ के प्रति एक नैकट्य और अतिरिक्त लगाव उत्पन्न कर लेता है। उसका आशय यह है कि वह धीरे-धीरे गुणी और योग्य बन जाता है। प्रमोद भावना व्यक्ति को विशाल बनाती है और उसके लिए निर्द्वन्द्व शान्ति का द्वार खोलती है।

कारुण्य भावना

ससार का हर आदमी अपने ही कष्ट को मिटाने मे व्यग्र है। उसकी दृष्टि घूम-फिरकर अपने पर ही केन्द्रित हो जाती है। उसमें उदार भावना का उद्रेक नही हो पाता। जिस समाज मे वह रहता है उसके सदस्यो के प्रति भी उसका कोई कर्तव्य और उत्तरदायित्व है, यह मनुष्य के दिमाग मे बहुत कम आता है। इस सद्‌भावना की अनुभूति वह तभी कर सकता है जब उसमे अहिंसा का विकास हो, 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के तत्त्व की पहचान हो। कारुण्य भावना मनुष्य मे सहानुभूति और आत्मीयता को विकसित करती है।

कारुण्य भावना का अर्थ है—जो व्यक्ति अज्ञानी है, व्यसनग्रस्त है, दु ख और दारिद्रय से क्लान्त है, उनके दु ख को दूर करने की अभिलाषा कारुण्य भावना कहलाती है।

दयाभाव सामाजिकता का एक प्रबल अग है। द्रवशीलता से मनुष्य मिलनसार और घुलनशील बनता है, जो मनुष्य के स्वय के और विश्व के समस्त प्राणियो के लिए सुख का साधन होता है। सहअस्तित्व और सद्‌भावना से ही विश्व-बन्धुता की सीमा विस्तीर्ण बनती है।

माध्यस्थ्य भावना

विश्व का प्रागण वैचित्र्य का क्रीडा-स्थल है। यहा इतने अजीब और विस्मयजनक आचरण होते हैं कि जिनकी कल्पना भी नही की जा सकती। अनेक आदमी इतनी क्रूरता कर बैठते हैं कि वह घटना सुनते ही मनुष्य के रोगटे खडे हो जाए। कुछ बडे धूर्त, छली, प्रपची होते हैं। कुछ दुर्व्यसनो मे आकण्ठ निमग्न रहते हैं। इन व्यक्तियो मे कुछ ऐसे होते हैं, जिनको समझाने का भी कोई परिणाम नहीं निकलता। वे अपने ही दुराग्रह पर डटे रहते हैं, और उसी प्रकार बुराई मे डूबे रहते हैं। ऐसी परिस्थिति मे कुछ आदमी झल्ला उठते हैं। उनके मन मे बडी उथल-पुथल मच जाती है। कहा न मानने वाले के प्रति बार-बार मन मे क्रोध आता है।

पर यह निश्चित बात है कि मनुष्य जैसा चाहता है, वैसा सब का सब नही होता। सब चिन्तन के अनुरूप होना तो दूर, कभी-कभी तो सारा का सारा उल्टा हो जाता है। ऐसी दशा का सीधा निष्कर्ष यह होता है कि मनुष्य एकदम रोषाकुल हो उठता है, जो उसके स्वयं के लिए और दूसरो के लिए अनिष्टकारक होता है। इस विषम वेला मे माध्यस्थ्य भावना का बडा उपयोग है।

माध्यस्थ्य भावना व्यक्ति को सन्तुलित रहने को प्रेरित करती है। मनुष्य बार-बार समझाने पर भी अपनी आदत से बाज नही आता। उसके प्रति मन मे रोष नही करना चाहिए। चिन्ता मे अपनी शान्ति को स्वाह क्यो किया जाए? दूसरे की चिन्ता की वही तक सार्थकता है जहां तक अपना आत्म-सन्तुलन न बिगडे। अपने घर मे आग लगाकर दूसरे के घर की रक्षा नही की जा सकती।

जो अपने हित की बात भी नही सुनता उसके ऊपर क्रोध कर उसको उत्तप्त करके व्यर्थ ही अपने सुख को क्यो विलुप्त किया जाए? यदि कोई आदमी समझाने पर भी निर्मल और शीतल जल को छोडकर दुर्गन्धमय कर्दम पीता है तो उसके लिए क्या किया जा सकता है? कोई अमृत पीता

है तो उसी का मुह मीठा होता है और जहर पीता है तो उसी की मृत्यु होती है। दूसरे को कोई फल नही मिलता। यही सोचकर वहा उपेक्षा कर देनी चाहिए। व्यर्थ की पराई चिन्ता मे अपनी शक्ति को कभी नही गवाना चाहिए।

मनुष्य को दूसरे पर उत्तेजित न होकर अपने विचारों की समीक्षा करनी चाहिए। उसके स्वय के विचारो मे कितना उतार-चढाव आता रहता है। वह स्वय कभी-कभी कितने विपम आचरण कर गुजरता है इसलिए दूसरा कोई जालसाजी और धोखेबाजी का दास बना हुआ है, किसी प्रकार भी मार्ग पर नही आ रहा है, समझाने पर उल्टा भडकता है तो अपने को समझा लेना चाहिए। प्रेम और परोपकार का अर्थ यह नही है कि अपने मन को व्यग्र और हिंसक बनाकर दूसरो का उद्धार करो। बल-प्रयोग से कोई नही सुधर सकता। अत दूसरे की नासमझी पर अपनी समता वृत्ति को आग मे झोक देना उससे बडी नासमझी है। दूसरा जो बुराई करता है उसके निराकरण मे स्वय उसी बुराई का शिकार हो जाना किसी भी प्रकार प्रशस्त नही।

माध्यस्थ भावना का दर्शन है कि दूसरा कुछ भी करे, प्रेमपूर्वक समझाने पर भी वह नही समझता है तो उसकी पूर्ण उपेक्षा कर देनी चाहिए, न कि अविचारिकता से उसकी बुराई स्वय को ओढ लेनी चाहिए। अपने आप पर सयम रखना अहिंसा का प्रथम अग है। विकट समय मे भी जो सन्तुलित रह सकता है वही अहिंसा के मर्म को पहचानता है।

उपर्युक्त चारो भावनाओ को मनुष्य यदि समुचित रूप से जीवन में उतारना सीख जाए तो वह बहुत शान्त रह सकता है और अहिंसा के विकास मे बहुत बडा सहयोग कर सकता है। अहिंसा का विस्तार कोरी बातों से नही हो सकता। उसका एकमात्र मार्ग सयमपूर्ण आचरण है। अहिंसा-प्रसार के इच्छुको को यही से उसका शिलान्यास करना चाहिए।

अवधान का आधार—प्रक्रिया और प्रयोजन

आत्मवाद

पाश्चात्य और पूर्वीय दर्शन में कथचित् कुछ मौलिक विभेद है। पाश्चात्य विचारधारा भूतवाद पर प्रतिष्ठित है और पूर्वीय आत्मवाद पर। पाश्चात्य वैज्ञानिक और विचारक भौतिक शक्ति को ही विश्व का मूल केन्द्र मानते है और उसकी खोजबीन मे अपनी प्रज्ञा का अधिकाधिक उपयोग करते हैं। उनका हर आविष्कार भौतिक विश्लेपण की उपलब्धि है। भूतवाद पर सर्वथा आस्था होने के कारण उनके प्रत्येक अनुसधान का विपय भौतिक सत्ता ही होती है। वे हर समस्या का समाधान भी जड की तहो मे छिपा खोजते हैं।

पूर्वीय मस्तिप्क का दर्शन करीव-करीव उससे एकदम उल्टा है। विशेपकर भारतीय द्रप्टाओ की धारणा पूर्णत' आत्मवादी है। भारत की समग्र सास्कृतिक चेतना का आधार आत्मवाद है। ऋपियो ने इसे ही सर्वोच्च सत्ता और सव विज्ञानो का विज्ञान माना है। सभी अधेरो को मिटाने वाला यही प्रकाश है। इसलिए आत्मवाद और आत्मोपलब्धि भारतीय दार्शनिको का सर्वोत्कृप्ट ध्येय है।

भारतीय दर्शनो मे प्रमुख रूप से तीन विचारधाराए सवलतम और सुविकसित हैं। तीनो ही विचारधाराओ ने आत्मदर्शन पर वहुत वल दिया है और उसी को सव ज्ञानो का तथा अशेप उपलब्धियो का मूल जाना है।

जैनाचार्यों ने आगमो मे कहा कि अपनी प्रबुद्ध आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा के दर्शन करो (सपिक्खए अप्पगमप्पएण), आत्मा ही बन्धन और कष्ट-मुक्ति का आधार है (बंध पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव), आत्म-पहचान और आत्म-सयम से ही दु ख-विमुक्ति होगी (पुरिसा अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एव दुक्खा पमोक्खसि), आत्मा को जानने वाला सब कुछ जान लेता है (जो एग जाणइ से सव्व जाणहि)।

बौद्ध आम्नाय के शासको ने कहा है—आत्मा के दीपक बनो (अप्पदीवो भय), आत्मा ही आत्मा का नाथ है (अत्ता ही अत्तनो नाथो) दिशा या विदिशा मे जो दुष्कार्य वैरी के लिए वैरी नही करता उससे बडा अहित अपनी दुष्प्रयुक्त आत्मा कर डालती है (दिसो दिस य न कयिरा, वेरी वापन वेरिण, मिच्छ मणि हित चित्त, पापियो त ततो करे)।

आत्मा की सर्वोच्च सत्ता मानते हुए वैदिक-मन्त्रदाताओ ने सदेश दिया है—आत्मा को जान लो, उसको जान लेने पर सब कुछ विज्ञात हो जायेगा (आत्मनि विज्ञाते सर्व मिद विज्ञात भवति), आत्मा ही द्रष्टव्य, मननीय और निदिध्यासनीय है(आत्मा वाऽरे दृष्टव्य, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः), सब सुख-दु ख आत्मकृत ही होता है (आत्मना विहित दु ख आत्मना विहित सुखम्)।

भारतीय सस्कृति की मूलभूत दार्शनिक चेतनाओ ने यो आत्मवाद की प्रतिष्ठा की है और उसी के माध्यम से सब विकासो और उत्क्रान्तियो के द्वार खोले हैं।

भारत के तत्त्व मनीषियो ने आत्मा को अनन्त ज्ञानात्मक और अनन्त शक्ति सम्पन्न माना है। केवल माना ही नही अपितु प्रयोग के क्षेत्र मे लाकर साधना के द्वारा आत्मा को वैसा ही सिद्ध करके दिखाया है।

साधना के सिन्धु मे गहरे गोते लगाकर भारतीयो ने आत्मा की अनेक विस्मयजनक विभूतियो को प्रकट किया है। मानव जीवन मे आयी अनेक जटिलताओ को आत्म-ऊर्जाओ के द्वारा सुगम बनाया है और अनेक ग्रन्थियो को आत्मशक्ति की सलाइयो से सुलझाया है।

आत्म-शक्ति अथाह है, उसकी क्षमताओ एव सम्पन्नताओ का कोई अन्त नही। उसकी अलौकिक और अप्रतिम शक्तियो से ही विश्व सचालित तथा सवाहित है। ससार का हर प्राणी आत्म-शक्ति को जागृत और विकसित कर अपूर्व सुख-सामर्थ्य को उपलब्ध कर सकता है।

परम हर्ष का विषय है कि इस वैज्ञानिक युग मे भूतवाद के विकास की पराकाष्ठा पर पहुचे हुए वैज्ञानिक भी आत्म-तत्त्व की अनन्य और अमोघ शक्ति से आकृष्ट होने लगे हैं। मनोविज्ञान का प्रादुष्करण इसी तथ्य का सुदृढ प्रमाण है।

मनोविज्ञान के मर्मवेत्ताओ का अभिमत है कि कठिन से कठिन समस्या का समाधान भूतवाद से निरपेक्ष रहकर केवल मनस्तत्व के आधार पर निकाला जा सकता है। यहा मानस-शास्त्रियो ने चैतन्य की पूर्ण प्रतिष्ठा की है। अवधान इसी मनस्तत्व का एक प्रकृष्ट रूप है। यह प्रबल स्मरण-शक्ति का चमत्कार है।

अवधान का इतिहास

जब लेखन और मुद्रण कला का विकास नही हुआ था तब हजारो-हजारो पद्यो को मौखिक स्मृति मे रखने की परम्परा थी। उस समय स्मृति की भी अपनी विलक्षणता थी। कुछ लोगो की स्मृति के तो बहुत ही विस्मयकारी उल्लेख मिलते हैं। ईसा के पूर्व हुए नन्द राजा के महामत्री शकडाल की पुत्रियो की स्मरण-शक्ति का अद्भुत वर्णन उपलब्ध होता है। महामत्री शकडाल के सात पुत्रिया थी। उन्हे स्मृति का वरेण्य रूप प्राप्त था पर यह सब उन्होंने कोई अवधान पद्धति से नही पाया था। नैसर्गिक ही उनकी स्मृति-शक्ति ही तेज थी। अवधान की सुव्यवस्थित परम्परा कब प्रारम्भ हुई, इसके विषय मे प्रामाणिक रूप से कुछ भी प्राप्त नही होता। इस परम्परा मे जैन मुनि उपाध्याय यशोविजयजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होने इसका प्रयोग व्यवस्थित विधि से किया था। उनका समय विक्रम की सोलहवी शताब्दी था। वे सहस्रावधानी

थे। कहा जाता है कि वे मनोयोगपूर्वक हजार स्मृति एव गणित प्रधान प्रश्नो को सुनकर घटो तक याद रख सकते थे। वाराणसी मे जब उन्होने विद्वत् समाज के समक्ष अवधान प्रस्तुत किये तब आत्म-शक्ति के इस विलक्षण विकास को देखकर सभी विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये।

इसके बाद भानुचन्द्र गणि का नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है। उन्होंने बादशाह अकबर की महती सभा मे १०८ अवधान प्रस्तुत कर अकबर सहित सारी सभा को विस्मय-विमुग्ध कर दिया था। उनके बाद मुनि सुन्दर सूरि आदि कुछ अवधानकार हुए है किन्तु उस समय के अवधानो की रूपरेखा क्या थी, यह कुछ भी ज्ञात नही होता। दक्षिणी भारत के कुछ विभागो मे भी अष्टावधान नाम से अवधानो की एक प्रक्रिया चालू है। यो लगता है अवधानो का एक लम्बा सिलसिला रहा है।

वर्तमान समय मे अवधानो की जो पद्धति प्रचलित है, वह श्रीमद रायचन्द की मानी जाती है। वे एक महान् तत्त्वज्ञानी, अध्यात्मविज्ञ एव सद्-गृहस्थ थे। गाधीजी उनको बहुत मानते थे। अहिंसा-विषयक उनकी जिज्ञासाओ का समाधान वे ही किया करते थे। उन्होंने गणित के जटिल एव स्मरण-शक्ति के अद्भुत प्रयोगो द्वारा अनेक बार लोगो को चमत्कृत किया था। वर्तमान समय मे उक्त प्रणाली के अनेक साधु-साध्विया अवधानकार हैं।

तेरापथ मे अवधान का श्रीगणेश

तेरापथ सघ मे सर्वप्रथम अवधान विद्या का श्रीगणेश युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल मे हुआ। इसका प्रारम्भ मुनिश्री धनराजजी सरसा ने किया। उनका जब विक्रम स० २००३ का चातुर्मास बम्बई था तब उन्होने धीरजलाल टोकरसी शाह के पास अवधान सीखकर १०१ अवधान उस महानगरी मे किए।

उसके बाद अनेक साधु-साध्वियो ने अवधान कला पर अधिकार प्राप्त किया।

सख्या की दृष्टि से मुनिश्री चम्पालालजी, मुनिश्री राजकरणजी और मुनिश्री श्रीचन्दजी ने काफी विकास किया है। आचार्यश्री ने अन्य कलाओ की तरह इस कला के विकास के लिए भी साधु-साध्वियो को बहुत प्रोत्साहित किया है। अनेक साधुओ को पारितोषिक देकर उनका उत्साह बढाया है। तेरापथ मे अब तक लगभग पचीस साधु-साध्वियो ने अवधान-विद्या की साधना कर ली है। विभिन्न साधु-साध्वियो ने भारत के बगाल, आसाम, पजाब, बिहार, उत्तरप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास, राजस्थान आदि अनेक प्रान्तो मे अवधानो का सफल प्रयोग किया है। भारत के विभिन्न शिक्षा केन्द्रो, कॉलेजो, राज्य सस्थानो, प्रतिष्ठित सार्वजनिक स्थानो तथा दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, बगलोर, मद्रास, पूना, आगरा, कानपुर, लखनऊ, गौहाटी, तेजपुर, नोगाव, चण्डीगढ, हिसार, बीकानेर, जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, अजमेर, बाडमेर आदि प्रमुख नगरो मे किये गये अवधान-प्रयोगो ने लोगो की भावना को काफी सीमा तक अध्यात्म की ओर आकृष्ट किया है। तेरापथ की प्रसिद्धि मे भी ये बहुत बडे माध्यम बने हैं।

अवधान का अर्थ

अवधान कोई जादुई चमत्कार नही है और न कोई अलौकिक उपलब्धि है। कुछ साधनो के द्वारा इसे प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। अपनी प्रसुप्त शक्ति को जाग्रत कर हर कोई इस विशेष क्षमता को पा सकता है। इसलिए इसे दैवी शक्ति अथवा अवतारो का अनुग्रह मानने की जरूरत नही। यह मनुष्य के प्रयत्न से सिद्ध होने वाला एक कार्य है। अवधान धारण करने का एक मनोवैज्ञानिक क्रम है। इससे स्मृति-विकास मे और स्थिरता मे बडा सहयोग मिलता है। जो बातें बडा परिश्रम करने पर भी स्मृति मे नही जमती, अवधान-परिपाटी से वे मिनटो मे स्मृति मे टिक जाती है।

अवधान का अर्थ है—परिचित या अपरिचित किसी भी बात या वस्तु

को एकाग्र मन से अपने स्मृति-कक्ष मे धारण करना। मनोयोग जितना निष्कम्प होता है, धारण करने में उतनी ही त्वरता और स्थिरता होती है। मानवीय जीवन के हर विकास के लिए स्मृति की प्रखरता और सबलता अपेक्षित है। अवधान कलात्मक ढग से इसकी पूर्ति का साधन है। अवधान श्रुत, दृष्ट और स्पृष्ट तथ्यो को स्मृति मे बैठाने का उपक्रम है।

अवधान मे विश्व की किसी भी भाषा के कुछ वाक्याश, लम्बी अंक पक्ति, संस्कृत-प्राकृत पद्य, व्यक्ति, नगर और वस्तुओ के नाम आदि स्मृति के आधार पर याद रखे जाते हैं। साथ ही गणित के प्रश्नो मे गुप्ताक-शोधन, मनोरजन गणित, कौन व्यक्ति कितने नम्बर की पुस्तक के कौन से पृष्ठ की कौन-सी पक्ति का कौन-सा वाक्य पढ रहा है, कौन कब जन्मा और किस की जेब मे कितने रुपये है आदि प्रश्नो का उत्तर बिना कागज-कलम की सहायता से गणित के माध्यम से किया जाता है। आखें बन्द किये कब कौन-सी पुस्तक उसके हाथ मे आयी बताना, यह सब कार्य-क्रम दर्शको को अजीब आश्चर्य मे डाल देता है। उनको दैवी चमत्कार-सा लगता है। पर असल में यह स्मृति-प्रखरता की विलक्षणता होती है।

अवधान की प्रक्रिया

अवधान करने की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया से अवधानो का प्रशिक्षण होता है। सर्वप्रथम अवधानकार को अपने मन को केन्द्रित करने का अभ्यास करना पडता है। तदनन्तर उसे अपने मस्तिष्क मे काल्पनिक प्रकोष्ठको का निर्माण करना होता है और प्रत्येक प्रकोष्ठ मे कल्पित स्वामी बिठाया जाता है। अवधानकर्ता को अवधान के समय स्मर्तव्य वस्तु का प्रकोष्ठ स्वामी के साथ सयोजन करते हुए उसे मस्तिष्क प्रकोष्ठ मे जचाना होता है। यह सम्बन्ध जितना सुदृढ और उभरा हुआ होता है अवधान उतने ही सफल होते हैं। अवधान प्रक्रिया के मुख्य चार अग हैं—

१. ग्रहण—जिस इन्द्रिय का विषय हो उसके द्वारा मन की पूर्ण

एकाग्रता के साथ उस वस्तु को ग्रहण करना। मन जितना केन्द्रित होकर ग्रहणकाल मे सहयोग करता है, ग्रहण उतना ही स्पष्ट और परिपक्व होता है।

२ धारण—गृहीत चीज को मस्तिष्क प्रकोष्ठो मे सुदृढ सम्वन्ध स्थापित कर सुरक्षित रखना।

३ स्मरण—आवश्यकता होने पर धारण की हुई वात को अस्खलित रूप से दोहराना।

४ प्रत्यभिज्ञा—स्मृति मे ली गयी वस्तु को पृथक-पृथक पहचानना।

इन चारो अगो के सम्यक् समायोजन के द्वारा ही अवधान की प्रक्रिया अच्छी तरह सीखी जा सकती है।

अवधान की सफलता के स्रोत

अवधान परिपूर्ण रूप से ठीक हो, उनमे किसी प्रकार की न्यूनता न रहे, वे सर्वथा सफल हो—इसके तीन आधार प्रमुख है। ये तीनो अवधान की सफलता के स्रोत कहे जा सकते हैं।

१ मानसिक एकाग्रता—अवधान की सफलता का मूल स्रोत मन की एकाग्रता है। बिखरे और विक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति कभी अवधानो मे सफल नही हो सकता। बिखरी हुई बहुत-सी शक्ति भी बेकार और वर्वाद हो जाती है, जवकि वह केन्द्रित होकर कठिन से कठिन कार्य को करने मे सक्षम हो जाती है। बिखरी हुई भाप बिलकुल अकिंचित्कर होती है, उसका आभास तक नही होता पर एकत्रित होकर महान् यन्त्रो का सचालन कर डालती है। वस्तुत ही मन की एकाग्रता मे महान् शक्ति निहीत है। अवधान की सफलता का प्रथम आधार द्वन्द्व-मुक्त मन की एकाग्रता ही है। अवधान के समय दूसरी इन्द्रियो के विपयो से मन पूरा हटा हुआ होना चाहिए। मन की और इन्द्रियो की समग्र शक्ति एकाग्रता से केवल प्रस्तुत अवधान में ही लगनी चाहिए। मन की एकाग्रता जितनी केन्द्रित होगी, अवधान उतना ही पूर्णता से होगा। अवधान मे मानसिक एकाग्रता

की कितनी गहरी आवश्यकता होती है इसकी सबसे पहले अनुभूति मुझे दिल्ली मे तब हुई जब मैंने साहित्य-परामर्शक मुनिश्री बुद्धमल्लजी के सान्निध्य मे सर्वप्रथम १०१ अवधान किये थे।

२ कल्पना-प्रवणता—अवधान साफल्य का दूसरा आधार कल्पना-प्रवणता है। स्मृति के अवधानो मे कल्पना का बहुत भारी उपयोग होता है। कल्पना शक्ति जितनी तेज और स्फूर्त होती है, अवधानो का समायोजन एव स्थिरीकरण उतना ही त्वरित गति से और सुघडता से होता है। आघात लगते ही वीणा के तार की तरह कल्पना के पख स्पदित हो उठते हैं, कल्पना तितली की तरह उडने लगती है तो अवधानो के सम्बन्ध-समायोजन मे बहुत ही विशदता आ जाती है। अवधानकार का कल्पना-शील होना बहुत आवश्यक है।

३ अभ्यास—अवधानो की सफलता का तृतीय स्रोत निरन्तर का अभ्यास है। किसी कला का शिक्षण एक बात है पर उसे सुरक्षित रखना दूसरी बात है। हर योग्यता या हर शक्ति को स्थायी अथवा मजबूत निरन्तर के अभ्यास से ही बनाया जा सकता है। सतत अभ्यास से नये सुशिक्षित और सुगृहित शिल्प विस्मृतप्राय हो जाता है। अत अवधान करने वाले को उसकी प्रक्रिया को दुहराते रहना चाहिए।

अवधान का प्रयोजन

अवधान कोई प्रदर्शन की चीज नही है, वह आत्म-ख्याति के लिए भी नही किया जाता है। उसके प्रयोग का उद्देश्य आत्म-शक्ति का परिचय देकर आत्मवाद की प्रतिष्ठा स्थापित करना है। भोगवाद से अभिशप्त मनुष्य को अध्यात्मवाद का गौरव दिखाना है।

वमर्तान युग मे स्मृति-क्षीणता प्रतिदिन विश्व की आबादी की तरह बढती जा रही है। विश्व के लिए आबादी ज्यो सिरदर्द हो रही है उसी तरह गिरती हुई स्मृति भी एक महान् समस्या बन रही है। स्मृति-क्षीणता से जहा मनुष्य के व्यावहारिक जीवन मे अनेक अडचनें आती है वहा अनेक

अनैतिकताओ को भी अवकाश मिलता है। परीक्षा-भवनो मे नकल, उद्दडता और धोखाधडी इसलिए चलती है कि छात्र-छात्राओं के पाठ्य स्मृति में नही होता, उन्हें अपना विषय अविकल रूप से याद हो तो इन सब बुराइयो को स्थान न मिले।

अवधान-प्रयोग के माध्यम से स्मृति-विकास की प्रक्रिया को प्रसारित करना है। निर्बल पडी स्मृति को पुनः तेज और सशक्त बनाया जा सकता है, इस प्रकार की आस्था को पैदा करना है। अपने आप पर विश्वास करके अगर मनुष्य अपनी स्मरण-शक्ति को बढाना चाहे तो उसमे अवधान प्रणाली से आश्चर्यजनक विकास कर सकता है। अवधानो की कला सचमुच मे मनुष्य जीवन के लिए एक बहुत बडा वरदान है।

ध्यान : एक विवेचन

मनुष्य के दु ख-द्वन्द्व का मौलिक कारण स्वरूप-विस्मरण है। वह यथार्थ मे अभावग्रस्त या दु खी नही है। परन्तु ऐसा अपने अज्ञान से बना हुआ है। अज्ञान का आवरण हटा दे तो समुद्र की तरह चारो ओर उसके सरसता और सम्पन्नता की सृष्टि विद्यमान है। कही भी नीरसता और दरिद्रता नही। समुद्र की तरह मनुष्य भी विशाल और अगम्य है। उसकी महत्ता और गरिमा उदधि से भी विपुल और व्यापक है। अक्षय क्षमताओं का वह स्वामी अपने आप मे परिपूर्ण है। उसकी अधिकाश अपूर्णता कल्पित और अज्ञान-जनित है। आत्म-विस्मृति से ही वह दीन-हीन भिखारी बना हुआ है। उसको सुखी और समर्थ करने का उपाय आत्म-ज्ञान ही है। आत्मशक्ति की अभिज्ञता उसकी सभी समस्याओ का समाधान प्रस्तुत कर देगी। आत्म-पहचान ही मनुष्य की सबसे बडी उपलब्धि है, जिसमे सभी प्राप्तिया निहित हैं। आत्म-जागृति और आत्म-बोध के लिए सबसे उत्तम मार्ग है ध्यान।

मुक्ति-प्राप्ति के समस्त साधनो मे ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी दार्शनिको और तत्त्व दर्शनो ने इस पर विशेष बल दिया है और इसकी विधि का विस्तार से वर्णन किया है। ध्येय की साधना मे ध्यान अनुपम और अद्वितीय सहायक होता है। बिना ध्यान के ध्येय की सिद्धि नही की जा सकती। ध्येय-सिद्धि के लिए एकाग्रता अनिवार्य होती है। ध्येय साधना मे सुदृढ निर्णय और अविकल धैर्य चाहिए। यह योग्यता ध्यान के माध्यम से अनायास अर्जित हो जाती है।

ध्यान की सबसे बडी सार्थकता यह है कि उसके द्वारा अन्तर-शान्ति मिलती है। जिस शान्ति में अन्त.करण की व्यग्रता एव उद्विग्नता मिटे और अन्तर्द्वन्द्व न रहे वही वास्तविक शान्ति होती है। अन्तरंग मे यदि विक्षोभ, आकुलता और अकुलाहट होती है तो वह असली शान्ति नही है।

ध्यान के द्वारा सभी सघर्षों की भी परिसमाप्ति हो जाती है, क्योकि अधिकाश सघर्ष मानसिक अस्वस्थता और चचलता के ही परिणाम होते हैं। कुछ भी नही होते हुए भी आदमी भूत खडा कर लेता है और उससे लडा करता है। चित्त की शान्त दशा मे विकल्प और विकारजन्य सभी सघर्ष निरस्त हो जाते हैं। जैसे उबलते पानी मे कोई प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर नही होता वैसे ही अशान्त मन मे कोई निर्णय या तथ्य प्रतिभासित नही होता। स्वस्थ और शान्त चित्त मे ही नव्य-नव्य स्फुरणाओं का साम्राज्य है (स्वस्थे चित्ते बुद्धय प्रस्फुरन्ति)।

ध्यान का अर्थ

ध्यान का अर्थ है एकाग्र चिन्तन अथवा मानसिक, वाचिक और कायिक चचलताओ का निरोध। ध्यान-दशा मे सभी विकल्पो को शान्त करते हुए किसी ही एक विषय मे तल्लीन एव तन्मय होने का प्रयत्न किया जाता है। क्षण-क्षण मे जो भाव-लहरिया उभरती हैं उन सबका शमन और निरसन करके अभीष्ट विपयो मे एकाग्र होना ध्यान कहलाता है।

ध्यान प्रारम्भ मे क्रिया और पूर्णता मे अवस्था है। ध्यान के माध्यम से समता की साधना की जाती है। राग-द्वेप ही बन्धन के मूल हेतु हैं। इष्ट पर अनुराग और अनिष्ट पर द्वेप भाव का प्रादुर्भाव व्यक्ति को असतुलित और अस्थिर बनाए रखता है। उसकी यह चचल वृत्ति ही लक्ष्य तक पहुचने मे बाधक होती है। ध्यान इसको सुस्थिर करने का उपक्रम है।

ध्यान का मौलिक रस और प्राण उसकी एकाग्रता में है। ध्यान दशा

मे ध्येय के अतिरिक्त कोई दूसरी स्मृति तक नही होनी चाहिए। जैसे एक पौधे के समीप दूसरा पौधा उग जाता है और पनपने लगता है तो उसका रस खीचने लगता है और शेष मे उसको निष्प्राण बना देता है। चिन्तन मात्र ध्यान मे वर्जित होना चाहिए। लगाव, झुकाव, तनाव और घुमाव सब समाप्त होने चाहिए। दिमाग मे किसी भी चीज़ का भार न हो और न किसी अनुराग या विराग का परिस्फुरण ही। योग त्रिक (मन, वचन और काय) की जो शान्त अवस्था है वही ध्यान का श्रेष्ठ अश है, यही आत्म-दर्शन और परमात्म-पद को उजागर करता है।

ध्यान का फल

ध्यान का प्रथम फल सन्तुलन और अन्तिम फल बन्धन-मुक्ति है। ध्यान मे मनुष्य की बुद्धि ज्यो-ज्यो स्थिर होती है त्यो-त्यो वह सनातन चिर सत्य की उपासिका बनने लगती है। प्रलोभन उसको लुभा नही पाते और भय उसको आतकित नही कर पाते। ध्यान मे व्यक्ति अन्तर्मुखी होने लगता है। बाह्य सज्जाओ और सभ्यताओ से मुडकर अन्तरग सज्जा से रसानुभूति करता है। ध्यानावस्था मे मनुष्य स्व को लक्ष्य बनाता है। आत्म-निरीक्षण की प्रक्रिया ज्यो-ज्यो तीव्र और प्रखर बनने लगती है वह आत्म-स्वरूप के समीप पहुचने लगता है। ध्यान का परम ध्येय तो आत्म-प्राप्ति ही है—जहा ध्यान, ध्येय और ध्याता का भेद मिट जाता है, शुद्ध एक चिन्मय स्वरूप रह जाता है। पूर्णता प्राप्त आत्मा के न कोई बन्धन रह जाता है और न कोई अधेरा। ज्योतिर्मय उस तत्त्व की निराली आभा होती है। अनुपम आनन्द होता है। वर्ण विन्यास के द्वारा उसको व्यक्त नही किया जा सकता। अनुभूति ज्ञेय तत्त्व का आनन्द अनुभव ही उठा सकता है, जडात्मक शब्द नहीं।

ध्यान प्रस्तुत जीवन मे बहुत बडा परिवर्तन कर देता है। प्रतिक्षण व्यग्र और विक्षुब्ध रहने वाला मनुष्य प्रशान्त और सन्तुष्ट बन जाता है। मानसिक स्वच्छता और प्रसन्नता के आधार पर वह अपना समग्र जीवन

जीवित और प्राणवान वना लेता है।

ध्यान के प्रकार

ध्यान की एक परिभाषा एकाग्र चिन्तन है। एकाग्र चिन्तन श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ किसी भी विपय मे हो सकता है। विपयो के आधार पर ध्यान के कई प्रकार हो सकते हैं। शास्त्रकारो और तत्त्वदर्शी मनीषियो ने ध्यान के अनेक भाग किए हैं किन्तु जैन, वौद्ध और वैदिक आचार्यों ने ध्यान के अनेक भेद करते हुए भी दो प्रकारो मे सभी का समावेश कर लिया है। वे हैं—पवित्र और अपवित्र। जैनाचार्यों ने इसको शुभ और अशुभ नामो से पुकारा है। वौद्धो ने कुशल और अकुशल नामो से व्यवहृत किया है और वैदिक धर्मनेताओ ने क्लिष्ट और अक्लिष्ट नाम दिया है।

चिन्तन की एकाग्रता और तल्लीनता किसी भी विषय मे हो सकती है। तुच्छ से तुच्छ और जघन्य से जघन्य विपय में भी व्यक्ति एकाग्र हो सकता है और महान् से महान् विपय मे भी। शुभ ध्यान जहा वन्धन-मुक्ति हेतु वनता है वहा अशुभ ध्यान वन्धन और क्लेश का निमित्त वनता है। मात्र एकाग्रता ही फलदायी नही होती, उसका शुभ होना भी आवश्यक है। इसीलिए सभी सम्प्रदायो एव परम्पराओ ने शुभ ध्यान पर बल दिया है।

ध्यान की विधि

हर क्रिया की अपनी विशिष्ट पद्धति होती है। उस पद्धति से उस क्रिया की सम्पन्नता हो तो वह सुन्दर, सुव्यवस्थित और सफल वनती है। विधिपूर्वक किया गया अनुष्ठान ही आत्मसन्तोप देने वाला होता है। ध्यान की अनेक विधिया हैं। उन सबका लक्ष्य यह है कि ध्याता का मन तरगित न रहकर प्रशान्त वने और वह टिके।

ध्यान की प्रथम आवश्यकता यह है कि मनुष्य का मन निर्विपय वने। विकल्पो की उधेड़वुन जव तक नही समेटी जा सकती तव तक ध्यान स्वलक्षी

नही हो पाता, अत ध्यान की पहली शर्त चित्त की स्वस्थता है। दूसरी बात है इन्द्रिय-सयम । इन्द्रिया व्यक्ति को बहुत भटकाती है। उन पर सयम और नियन्त्रण जब तक नही होता तब तक कोई भी साधक ध्यान मे सफलता नही पा सकता। स्वर, रूप, सुगन्ध, स्वाद और स्पर्श मनुष्य को जब तक खीचते रहते हैं तब तक वह ध्यान का पात्र नही बनता। इन्द्रिय विषय-बन्धन से उसे बिलकुल मुक्त होना चाहिए तभी वह केन्द्रित हो पाएगा।

आन्तरिक साधनो के साथ-साथ बाह्य उपकरणो का भी ध्यान मे बहुत बडा सहयोग रहता है। ध्यान के लिए एकान्त और शान्त स्थान की अपेक्षा होती है। जो स्थान जनाकुल हो अथवा हलचल-भरा हो वह ध्यान के उपयुक्त नही होता। ध्यान मे दृग्बन्धन या नासाग्र दृष्टि बहुत आवश्यक है।

ध्यान खडे, बैठे, सुप्त आदि किसी भी अवस्था मे हो सकता है। ध्यान मे आसन की अपेक्षा मनोनुशासन की विशेष महत्ता है। यद्यपि मन के स्थैर्य मे आसन भी सहायक बनता है। वातावरण का व्यक्ति के अन्तरग पर काफी प्रभाव पडता है। किन्तु बलिष्ठ तथ्य यह है कि मन पर सम्यक् आधिपत्य हो तो वह हर परिस्थिति मे उसको अनुकूल और साध्य-निष्ठ बनाए रख सकता है। अधिकृत मन तो पावर-हाउस की तरह शक्तियो का केन्द्र है। विधि का सर्वत्र महत्त्व है। अत विधिवत् किया गया ध्यान बहुत फलप्रद होता है।

ध्यान का समय

ऐसे तो ध्यान किसी भी समय किया जा सकता है, उसका कोई निश्चित समय नही है। ध्यान की अच्छी साधना होने पर व्यक्ति कही भी और किसी भी समय एकाग्र हो सकता है। क्षेत्र, समय और परिस्थितिय उसकी एकाग्रता मे बाधक नही होती। ध्यान की ओर रुझान हों ही वह ध्यानस्थ हो जाता है। बाह्य वातावरण उसको पीडित नही क

पाता, क्योकि उसका अन्तरग उसके वशवर्ती होता है। मन पर पूरा नियंत्रण होता है। पर जब तक ध्यान की अभ्यास-दशा हो तब तक सूक्ष्म-सी हलचल से भी मन उचट जाता है। अत ध्यान का समय ऐसा होना चाहिए जिसमे अधिक से अधिक शान्ति हो और मन निर्विकल्प तथा निर्विचार हो।

शास्त्रकारो एव ध्यान के अनुभवियो ने ध्यान के उपयुक्त दो समय माने है—प्रथम प्रात काल का, दूसरा शयन से पूर्व। प्रात काल जिसे अमृत-बेला कहते है, सूर्योदय के दो-ढाई घटा पहले का समय होता है। उस समय बडी शान्ति होती है। जग की हलचल प्रारम्भ नही होती है। चारो ओर शान्त और नीरव वातावरण रहता है। बहुत सुहावना और चित्त-प्रसन्नता का वह समय ब्राह्म मुहूर्त के नाम से भी पुकारा जाता है। वस्तुत वह समय ब्रह्म को—आत्मा को आह्वान करने का समय है। उस समय मनुष्य का मन काफी स्वस्थ और स्वच्छ होता है। अत उस समय मे किया जाने वाला ध्यान तथा चिन्तन शीघ्र जीवन-परिष्कृत और आत्म-दर्शन मे सहायक होता है।

प्रात काल के अतिरिक्त ध्यान का दूसरा समय शयन से पूर्व माना जाता है। प्रस्तुत समय मे ध्यान करने से दो लाभ है। एक तो दिन भर के कृत कार्यों पर मनोमन्थन हो जाता है, उनके उचित-अनुचित का निष्कर्ष निकल आता है। सत् की ओर प्रेरित होने का बल मिलता है। वस्तुतः ही एकान्त मे एकाग्र होकर किया गया ध्यान व्यक्ति को सुदृढ सकल्प और अपूर्व शक्ति प्रदान करता है। निराश व्यक्ति के भी आशा की बादली चमक उठती है। अक्षय शक्तियो का स्रोत उमडने लगता है। दूसरे इस समय में किया गया ध्यान निश्चित रूप से निद्रा मे भी सहयोगी बनता है। चिन्तन-मनन से व्यथित सभी दिमागी भारो को हटाकर निश्चिन्त बन सकता है और सुख की नीद सो सकता है। सुखद नींद वही सो सकता है जो उलझनो से मुक्त हो और आसक्तियो से ऊपर हो। उपर्युक्त दोनो ही समय ध्यान के लिए श्रेष्ठ हैं।

ध्यान भारतीय सस्कृति का नवनीत है। विषम पहलुओ को इसके द्वारा सम और स्निग्ध बनाया जाता है। आत्मावबोध के लिए इससे अन्य कोई साधन नही है। पूरी तरह ससार मे फसा व्यक्ति भी ध्यान-साधना से बन्धन-मुक्त बन जाता है। ध्यान आत्म-जागृति का दिव्य प्रशस्त मार्ग है।

कितना भी कालुष्य चढा हो पर ध्यान के निर्मल स्रोत के प्रवाहित होते ही सब धुलकर साफ हो जाता है। सुख-दु ख का कारण मनुष्य स्वय है। वह अपने को सन्मार्ग पर चलाये तो सुख और उन्मार्ग की ओर बढे तो दु ख पाता है। ध्यान उसको श्रेय मार्ग की ओर करने का उपक्रम है। ध्यान से व्यक्ति अपने अन्तरग जीवन की हर समस्या को पकडे और ध्यान की अग्नि मे डाले तो सभी समस्याए शान्त हो जाए।

संस्कृति : एक चिन्तन

सस्कृति की व्युत्पत्ति मे दो शब्द हैं—सम् और कृति । इन दोनो के योग से सस्कृति शब्द की निष्पत्ति हुई है। सम् अर्थात् सम्यक् और कृत अर्थात् निर्माण। तात्पर्य यह हुआ कि सम्यक् निर्माण।

ससार मे बहुत कुछ निष्पन्न होता है, पर वह सब सस्कृति की कोटि मे नही आ सकता। सस्कृति की श्रेणी मे तो वही समाविष्ट होता है, जिसका सम्यग् निर्माण हो।

सस्कृति की परिभाषा

सस्कृति की विद्वानो ने अनेक परिभाषाए की हैं, परन्तु विस्तार-भय से मैं उन सबका विश्लेषण नही करना चाहता। अत उनमे से कुछेक का ही उल्लेख कर रहा हू।

सस्कृति की व्याख्या करते हुए एक पडित ने कहा है—जीवन मे एकरसता प्राप्त सस्कारो की केन्द्रीभूत समष्टि ही सस्कृति है।

अन्य किसी मेधावी ने कहा है—जातिगत गुणो का सामूहिक नाम ही सस्कृति हैं। जाति अथवा राष्ट्र जिन सुसस्कृत नियमो को अपनाकर विकास करता है, उन्ही को सस्कृति कहा जाता है।

किसी जीवन-मर्मज्ञ ने कहा है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधना ही सस्कृति है।

रामायण के रचयिता तुलसीदासजी ने कहा है—

कृपि निवारहि चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहि मोह मद माना॥

अर्थात् जिस प्रकार चतुर किसान अपने खेत मे हानि पहुचानेवाले तृणादि को हटाकर खेत को शुद्ध एव स्वच्छ बनाता है, वैसे ही विलक्षण व्यक्ति अपनी आत्मा के मोह, मद, द्वेष, लोभ और क्रोध आदि दोषो को दूर करके जीवन का जो परिष्कार करते हैं, वही सस्कृति है। इस प्रकार हमे सस्कृति की विभिन्न परिभाषाए मिलती हैं। इन सब परिभाषाओ के तल मे हम पाते हैं कि अपूर्ण से पूर्ण की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर जो प्रयाण का उपक्रम है, वस्तुत वही सच्ची सस्कृति है।

एक सस्कृति

विश्व की सस्कृति एक है, इसके भेद नही हो सकते। भेद तो चित्त के साकीर्ण्य का प्रतीक है। सकीर्णता मे सस्कृति के दर्शन नही हो सकते हैं, क्योकि सस्कृति देश, जाति, वर्ग और भाषा आदि की सीमा से परे होती है।

विकास के मूल सत्य सद्भावना, सहानुभूति, त्याग, आस्था और प्रेम हैं। प्रत्येक मनुष्य, समाज, वर्ग और राष्ट्र के लिए ये गुण अनिवार्य हैं। इनके बिना कोई प्रगति नही कर सकता और इनमे सास्कृतिक एकता स्वत प्रतिफलित हो आती है।

पूर्वीय सस्कृति, पाश्चात्य सस्कृति, रूसी सस्कृति, अमेरिकन सस्कृति, आग्ल सस्कृति, भारतीय सस्कृति, ईसाई सस्कृति, मुस्लिम सस्कृति, हिन्दू सस्कृति, जैन सस्कृति, बौद्ध सस्कृति, वैदिक सस्कृति, दास सस्कृति, वणिक् सस्कृति आदि ये औपचारिक भेद हैं, तत्त्वत सस्कृति न तो भेदपूर्ण होती है और न ऐसा होना अभीष्ट ही है।

सस्कृति के विभक्तिकरण से उसके लक्ष्य का हनन होता है, उसका गौरव विलुप्त होता है, उसमे सकुचितता आ जाती है। छोटी दृष्टि वाले दूसरो को नही सह सकते। असहिष्णुता सदा ही विरोध का वातावरण तैयार कर देती है और उसके बाद तो कलह का द्वार खुल जाता है। इससे

क्रमश भयकर युद्धो का वातावरण वन जाता है। असख्य विध्वसक यन्त्रो का निर्माण होता है, उसमे असीम धन का नाश होता है। ऐसे महान् विध्वस और भीषण सघर्ष की हेतु सस्कृति कैसे वन सकती है ! उसका साध्य विघटन नही, सम्मेलन है। शान्ति-सस्थापन है। जहा सम्मेलन और विकास होता है, वही सस्कृति की उपलब्धि हो सकती है, अन्यत्र नही।

सस्कृति के उपर्युक्त भेद जहा किए जाते हैं, वहा एक विशिष्ट दृष्टि या वाह्य आचार-व्यवहार के आधार पर किए जाते हैं। किन्तु मूलत उसमे कोई भेद नही है।

आदान-प्रदान सस्कृति का एक विशिष्ट गुण है। इससे सस्कृति समृद्ध होती है। सस्कृति विरोध मे नही, समन्वय मे होती है। यह सदा सरिता की तरह प्रवाहशील रहती है, कभी रुकती नही। जिस प्रकार वहती हुई नदी से सब लोग लाभान्वित रहते हैं, उसी प्रकार सस्कृति से भी मनुष्यो का प्रेय और श्रेय सिद्ध होता है।

वर्तमान युग मे सस्कृति का कुछ ह्रास अवश्य हुआ है। लोग सस्कृति के स्वरूप को भूल गये हैं। उनकी दृष्टि मे अत्यन्त विपर्यय हो गया है। वे अन्तर को छोडकर वाह्य के ही उपासक वन गए हैं। सस्कृति का रूप भी वे केवल नृत्य और गायनो मे देखने लगे। सास्कृतिक कार्यक्रमो मे वहुधा वही सब कुछ होता है, जिसका जीवन-विकास और सस्कार-निर्माण से थोडा भी सम्बन्ध नही होता।

सस्कृति शब्द की अर्थ-गरिमा

सस्कृति शब्द की अर्थ-गरिमा वहुत व्यापक है, इसलिए उसके गर्भ मे जीवनगत विचार, आचार, विज्ञान, दर्शन, व्यवहार, साहित्य एव कला निहित है। सस्कृत चरित्रवाले मनुष्य किसी को हीन और अस्पृश्य नही मानते, वे वर्ण-परिधि को लाघकर मानवता की सेवा करते हैं।

"आत्मवत् सर्वभूतेषु, य पश्यति स पण्डित"

यह उनका महान् सिद्धान्त होता है कि वे मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-रेखा नही खीचते। ससार के सब जीवो के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार होता है और सब मे समानता देखते हैं।

जैनागम का सुन्दर सूक्त है—

"समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे

गीता का सूक्त—अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'

बौद्ध ग्रथो मे बुद्ध के लिए कहा गया है—

"वधके देवदत्तम्हि चोरे अगुलमालके।
धनपाले राहुले च सव्वत्थ समको मुनि. ?"

इन आदर्श सिद्धान्तो के आधार पर सस्कृति का अर्थ हुआ—साम्य निर्लिप्तता और अनासक्त भाव से कार्यलीनता

सस्कृति और सभ्यता

अनेक लोग सस्कृति और सभ्यता को एक ही मानते हैं, पर वस्तुत: स्थिति ऐसी नही है। सस्कृति और सभ्यता मे भिन्नता है। सस्कृति सूक्ष्म होती है और सभ्यता स्थूल। सस्कृति मे आत्मा के औदार्य, माधुर्य और सौजन्य आदि गुणो का समूह होता है और सभ्यता भौतिक प्रगति पर आधारित रहती है। मनुष्य की सुव्यवस्थित व्यवस्था, सज्जित वेशभूषा, आलाप-सलाप की परिष्कृत पद्धति और वाष्पयान, वायुयान, जलयान, रडार यन्त्र आदि जो जीवन-सुविधा के लिए बाह्य उपकरण हैं, वे सब सभ्यता के द्योतक हैं, सस्कृति के नही। पर इन सब मे मनुष्य कौन-सी रुचि का प्रदर्शन करता है उससे सस्कृति का परिचय होता है। बृहत्तम निर्माण यन्त्रो मे मनुष्य किस दृष्टि से सलग्न होता है, उस दृष्टि से सस्कृति का बोध होता है। सस्कृति अन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति है और सभ्यता मानव के बाह्य प्रयोजनो को सहन करने का विधान है।

सभ्यता शरीर को अलकृत करती है और बाह्य वातावरण को सजाती है। सस्कृति चैतन्य को पुष्ट करती है और परस्पर के व्यवहार मे सौहार्द

सम्पादित करती है तथा आत्मा को विनम्र बनाती है।

विज्ञान की उन्मुखता सभ्यता की ओर है। प्राय उसकी समग्र गति शरीर की सुरक्षा और सुव्यवस्था मे, व्यस्त तथा सलग्न है। पर आत्म-शान्ति तथा मनुष्य के मन को निर्भय एव तृप्त बनाने के लिए उसने कोई सूक्ष्म चरण-न्यास नही किया है और वैसा करने के लिए समर्थ भी नही है। यह सब तो सास्कृतिक विकास ही कर सकता है। इसलिए सस्कृति का विशेष महत्त्व है।

भारतीय सस्कृति का वैशिष्ट्य

ऋग्वेद मे कहा गया है—"एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"

जैनागम मे निरूपण किया गया है—"एगे सच्चे"

बौद्ध ग्रन्थो मे उल्लेख है—"एग ही सच्च न दुसियमत्थि"

इन कथनो के अनुसार सत्य एक ही है, पर विद्वान् लोग प्ररूपण-पद्धति के आधार पर उसमे नानात्व ले आते हैं, उसी प्रकार विश्व-त्राता सस्कृति भी सारे ससार की एक ही है। परन्तु वक्ता की विवक्षा से अथवा किसी तथ्य की प्रमुखता से काल्पनिक भी स्वीकार कर ली जाती है।

'भारतीय सस्कृति' यह जो कथन किया जाता है, इसके पीछे भी यही दृष्टि काम करती है।

'भारतीय सस्कृति' की अनेक विशेषताए हैं। उसमें प्राणि मात्र के कल्याण की कामना की गई है, उसकी प्रथम विशेषता उदारता है।

कहा गया है—

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुखभाग् भवेत्॥

अर्थात् सब सुखी हो, सब निरोग हो, सबका कल्याण हो, कोई दुख न पाए—बिना किसी भेद-भाव के यह भारतीय सस्कृतिका उद्घोष रहा है।

इसी प्रकार—

सगच्छध्व सगदध्व सवो मनासि जानताम्

अर्थात् सब मनुष्य मिलकर समान उन्नति करें, सब एक लक्षात्मक वाणी बोलें, सबके हृदय एक रसमय हो और सब सबके विकास मे सहयोगी बनें।

भारतीय सस्कृति का दृष्टिकोण बहुत व्यापक रहा है, उसमे स्व-पर की भेद-रेखा नहीं है, इस रेखा को लघुता का प्रतीत माना है और दूषण रूप से देखा है। संस्कृत सूक्त है—

अय निज परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानातु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अर्थात् यह उदार भावना भारतीय सस्कृति का मौलिक स्तम्भ है।

भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता है आत्मवाद

आत्मवाद ही सब चिन्तनो का आधार रहा है। इस विषय मे बहुत सूक्ष्म आलोचन और प्रत्यालोचन हुआ है। ऋषियो ने उसे ही श्रेय, उपादेय और परम कहा है। आत्मा को पूर्ण रूप से जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। गीता का कथन है—

यद् ज्ञात्वा नेह भूयोअन्यद् ज्ञातव्यमवशिष्यते।

अर्थात् आत्वा को जान लेने पर कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नही रह जाता।

इस प्रकार भारतीय सस्कृति एक आत्म-सस्कृति बनती है।

भारतीय सस्कृति की तीसरी विशेषता है त्याग

यहा भोग को नही, त्याग को गौरव प्राप्त है। जो त्यागी हैं, उन्हे सम्मान के योग्य माना जाता है, वैभवशालियो को नही। मनुष्य कभी भी वैभव परिवार या अन्य साधन सामग्री से सन्तुष्ट नही होता। मन का सन्तोष ही उसको परितृप्त करता है। यही बात यहा के मनीषियो ने कही है।

मनसि च परितुष्टे को अर्थवान् को ही दरिद्र।

यहा वैभव-विपुलता को नही, मन के सन्तोष को सुख का साधन माना है। इसलिए यह त्याग की सस्कृति कही जाती है। यहा पर बडे-बडे धनिको और राजाओ ने भी सर्वस्व त्यागकर सन्यास को स्वीकार किया है। भगवान् महावीर, बुद्ध आदि इसके साक्षात् उदाहरण हैं।

भारतीय सस्कृति की चतुर्थ विशेषता है समन्वयशीलता

भारतीय दर्शन इस विषय मे काफी उदात्त है। उन्होने प्रत्येक समस्या को सामजस्य के बल पर समाहित करने का प्रयत्न किया। जैन दर्शन का अनेकान्त दर्शन और स्याद्वादमय कथन तो समन्वय का मूर्त रूप है। उसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ और हर कथन अनेक स्वभाववाला तथा अनेक आशयवाला हो सकता है। अनेकान्त के आधार पर हम एक ही पुरुष को पिता, पुत्र, चाचा, भाई, भतीजा, भानजा आदि अनेक रूपो मे प्रस्तुत कर सकते हैं। ये सभी उसके वास्तविक रूप होते है, जिनमे परस्पर कोई विरोध नही होता। इस प्रकार चिन्तन-विशालता और आचार-उदारता भारतीय सस्कृति का एक प्रमुख रूप रहा है, जिसे हम समन्वय शीलता के नाम से पुकारते है। इसका रूप बहुत उदारतापूर्ण है। यहा पर अनेक प्रवाह आये और जो उनमे ग्राह्य अश था, उसे यह ग्रहण करती रही है और इस आधार पर अपने रूप को समृद्ध बनाती रही है। एक समय यह इतनी व्यापक और उन्नत बन गई थी कि सारे ससार मे इसको शिखरस्थ पद प्राप्त था।

यहा के व्यक्तियो से समग्र ससार के मनुष्यो को चरित्र की शिक्षा मिलती थी। इस पर अनेक बार विविध आघात और प्रहार हुए है, पर इसने अपने मौलिक स्वरूप को नही छोडा।

आज आवश्यकता है कि इसका विस्तीर्ण अध्ययन और मनन किया जाए तथा उसको आचार मे लाया जाए, क्योकि सस्कृतिमय वातावरण विश्व का कल्याण करेगा। उससे ही सब द्वन्द्व विनष्ट होगे और क्षुब्ध वातावरण शान्त होगा। जीवन जागृत एव शान्तियुक्त बनेगा।

प्रशासन : एक अनुचिन्तन

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक जैफर्सन ने कहा है—"सर्वोत्तम प्रशासन-व्यवस्था वही है जो कम से कम प्रशासन करती है।" इसी तथ्य पर टिप्पणी करते हुए हेनरी डेविड थोरो ने लिखा है—"यदि उस शासन-व्यवस्था को अच्छा समझा जाता है जो कम से कम प्रशासन करती है तो उसे सर्वोत्तम क्यो नही माना जा सकता, जो प्रशासन विलकुल ही न करे।" उपर्युक्त शब्दावली मे प्रशासन की गहरी मीमासा प्रस्तुत है। प्रशासन क्या है ? और उसका ध्येय क्या है ? इसको सूक्ष्मता से विश्लिष्ट किया गया है।

प्रशासन का उदय

प्रशासन का उदय जनता के अज्ञान और व्यवस्था असामर्थ्य का परिणाम है। इसमे कुछ भी सन्देह नही कि मानव-जाति के आरम्भ मे ही मनुष्य का जीवन पूर्ण होता अथवा यह कहा जाए कि यदि सामाजिक सम्बन्ध शुरू से ही उत्तम होते तो मानव-समाज मे सरकार की आवश्यकता ही अनुभव नही की जाती। मानव-समुदाय की कार्य-विकलता ने ही प्रशासन-उद्गम को अवसर दिया।

प्रशासन-पद्धतिया

संसार मे प्रशासन-पद्धतियो का लेखा-जोखा बहुत विशाल है। आगे से आगे उनकी सख्या वृद्धिगत होती गई। किन्तु अब तक भी उनकी वृद्धि

असफलता तथा निरर्थकता की ओर ही सकेत करती है। ऐसी कोई प्रशासन-प्रणाली नही है जो दोषो से सर्वथा उन्मुक्त हो। मनुष्य सदैव शान्ति का अभिलाषी है। उसकी उपलब्धि के लिए उसने अनेक नये सृजन किए। प्रशासन का आविर्भाव भी उसी कामना से हुआ। किन्तु मनुष्य का यह अनुष्ठान फलदायी न हो पाया। जैसा कि पाश्चात्य विचारक थोरो ने कहा—"अच्छी से अच्छी सरकार सामाजिक सुविधा के लिए होती है, किन्तु वहुधा अधिकाश सरकारें और कभी-कभी सभी सरकारें असुविधाजनक प्रमाणित होती हैं।"

सव प्रशासन-पद्धति के अपने-अपने गुण-दोष होते हैं। उनमे भी जो प्रशासन सत्ता को अधिक केन्द्रित करनेवाले होते हैं, वे ज्यादा भयकर और उत्पीडक होते है। अनेको का भाग्य जब एक मुट्ठी मे वाध दिया जाता है तो अन्यायो की कोई सीमा नही रह जाती। सम्राटो और राजाओ के प्रशासन इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। यही कारण वना कि प्रशासन पद्धतियो मे गणतन्त्र का प्रादुष्करण हुआ। एकतन्त्र मे जहा व्यक्ति की अस्मिता अपने मे ही चूर रहती है और जन-साधारण से उसका सम्वन्ध टूट जाता है वहा गणतन्त्र मे उसकी अस्मिता पर नियमन और चुनौती रहती है। शासक को शिखरस्थ नही, लोगो के बीच मे बैठने का अवसर मिलता है, जो कि सहानुभूति का उद्दीपन करता है और शासकत्व के गर्व को भग करता है।

प्रशासन का मौलिक ध्येय

प्रशासन का मौलिक ध्येय सत्ता हस्तगत करना और लोगो पर अनुशासन चलाना नही है। उसका उद्देश्य तो मानवीय भावनाओ का उद्दीपन करना है। मनुष्य को हर पहलू पर सक्षम और योग्य वनाना है। मानव समुदाय को सदा अपने पैरो तले रौंदने वाला और उसे अज्ञान एव जडता के गहन तिमिर मे फसाए रखने वाला प्रशासन महान् हिंस्रवृत्ति और जघन्यता का प्रतीक है। ऐसा प्रशासन संस्कृति और मानवीय वृत्तियो

को चौपट पर देता है। जो प्रशासन कर्तव्यनिष्ठा, वन्धुत्व और निर्भयता को व्यापक रूप से प्रसारित नहीं कर पाता और मनुष्य मे उदार एव जागृति की भावना को नहीं जगा पाता वह सस्कृति का एक अपराध करता है।

वस्तुत तो मनुष्य की पूर्ण जागृति के एव परस्पर की गहरी सम्वद्धता के आधार पर ही जीवन के पहलू विकसित एव सवल बन सकते है। मानवीय सस्कारो का उद्दीपन जव तक न होगा तव तक कोई भी सुचारुता मनुष्य-समुदाय मे पनप न पायेगी। उसके सब विकासो की रीढ उसका आत्म-जागरण है। उसकी उठी हुई और सस्कारित आत्मा ही उसके व्यवहार को व्यापक, मधुमय और विश्वस्त वनाती है। मनुष्य के सस्कार और व्यवहार जब इतनी मात्रा मे उठ जाते है जहा आक्रमण और अहित की वात सर्वथा विलुप्त हो जाती है, तब फिर बाह्य रोक-टोक और अनुशासन की बात उस पर लागू नही होती। सारी स्थिति को वह अपने आत्मीय सम्बन्धो के आधार पर सम्भाल लेने का प्रयास करता है। यह आत्मोदय की स्थिति होती है। ऐसी अवस्था मे प्रशासन की अपेक्षा नहीं रह जाती। आखिर यह वाह्य प्रशासन चलने का भी नहीं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'जीवन के दस भेद मे' कहा है—"गवर्नमेंट नाम से जिस सत्ता को पुकारा जाता है वह सत्ता अन्त तक मनुष्य पर कायम नही रह सकेगी।" इसी से मिलते-जुलते विचार श्री जैनेन्द्रकुमार ने व्यक्त किए हैं। उन्होने कहा है—"सरकार को अन्त मे बिखरना ही तो है। उसको सारे समाज मे रम जाना है। समाज आदर्श वह है जहा हर नागरिक आत्म-शासित है और कही वाहरी छत्र-दण्ड से अभिशप्त होकर किसी शासक को सिंहासन पर विराजमान होने की आवश्यकता नही है।"

व्यक्ति-व्यक्ति को आत्मानुशासन सीखने की आवश्यकता है। वही स्थायी हल प्रस्तुत कर सकता है। प्रशासन की कठोरता मनुष्य के मन को कभी नही जीत सकती क्योंकि उसका वल हार्दिक नही होता। जैसा कि 'सोच-विचार' मे कहा है—"राज्य का वल हृदय का नहीं, कानून का है।

गुण का नही, सख्या का है। सहानुभूति का नही, दमन का है।" यही कारण है कि व्यक्ति मे अनुशासन के प्रति कोई आकर्षण पैदा नही हो पाता। आदमी वहा सदा आतकित रहता है। फिर उस अनुशासन की क्या आवश्यकता रहती है कि जिसमे मनुष्य अभय और सुखी न हो।

प्रशासन की सीमा

प्रशासन के विस्तार मे उसका विनाश निकल आता है। इसलिए उसका सीमाकरण बहुत अनिवार्य है। महात्मा भगवानदीन ने कहा है—याद रहे अनुशासनपालकता भी अब सीमा लाघ जाए तो दुखदायी हो उठती है। शासको की जैसे-जैसे शासनप्रियता बढती जायेगी, शासन-भार बढता जायेगा, वैसे-वैसे अनुशासन-हीनता बढती जायेगी। गोलियां इस प्रचड अग्नि के लिए सदा आधी सिद्ध होती रहेगी। शासन-भार को कम और कानूनो के अम्बारो को सक्षिप्त करने के सुझाव शासकों के पास देश-विदेशो मे आते ही रहते हैं। कुछ वर्ष पूर्व विनोबाजी ने तो यहा तक प्रस्ताव रखा था कि भारत सरकार एक वर्ष के लिए प्रशासन कार्य को बद कर दे।

महात्मा भगवानदीन ने भी अपने एक लेख मे यह सुझाव दिया है—हमारी सलाह है कि भारत सरकार शक्ति को बिखेरना शुरू कर दे, शासन-भार को कम कर दे और अनुशासनहीनता का रोना छोड दे।

प्रशासन के दो महान् दोष

प्रशासन-काल मे कुछ छोटी त्रुटिया तो रहती ही हैं पर उनमे प्रमुख रूप से दो दोष अधिकाशतया होते हैं। दोनो ही दोष प्रशासन की आस्था को समाप्त कर देते है।

प्रशासन का प्रथम दोष

प्रशासन अधिकाश कार्य बल-प्रयोग के आधार पर करता है।

अनुशासित लोगो की इच्छाओ और कामनाओ को वह नही देखता। उसकी मानसिक स्थिति के साथ समन्वय बिठाये विना वह आगे से आगे वलपूर्वक व्यवहार करता रहता है। अनुशासितो की प्राय मागें ठुकराता रहता है। तनिक-से अपराध पर उनको कुचल डालने का प्रयास करता है। अनुशासितो का विकास कैसे हो, इस दिशा मे प्राय प्रशासन वहुत शिथिलता से सोचते और कार्य करते है।

प्रशासन मे वल-प्रयोग की प्रवृत्तिया काफी वढी-चढी और स्वच्छन्द रहती हैं। अपने प्रतिकूल वह कुछ भी नही सह सकता। अपनी स्खलनाओ की समालोचना को सहना भी उसके वश की वात नही होती। यही कारण है कि प्रशासन अपने आलोचको के साथ वहुत कठोरता से पेश आता है। उसका परिणाम यह निकलता है कि प्रशासक और प्रशासितो मे वैमनस्य और विरोध वढता रहता है और विद्रोह की आग भभकने लगती है। विद्रोह की ज्वाला कभी-कभी तो इतनी प्रचड हो जाती है कि प्रशासन के प्रमुखो को भस्म कर डालती है। निकट मे ऐसी अनेक घटनाएं घटी हैं। देश के प्रधानमन्त्रियो तक को मौत के घाट उतार दिया गया। जिस प्रशासन मे वल-प्रयोग की आधी निर्दयता से चलती है वहा का प्रशासित वर्ग तो आतकित रहता ही है, पर प्रशासन के नेताओ और अधिकारियो को भी पूरा खतरा रहता है।

वल-प्रयोग के माध्यम से चलने वाले प्रशासन अकसर अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। वे अपने शासित वर्ग के हृदय को पकड नही पाते। उससे अपेक्षित सहयोग नही ले पाते। प्रशासन तो आखिर प्रशासितो द्वारा स्वीकृत सत्ता ही तो है। वे जव सम्मिलित होकर उसे अमान्य कर देते हैं, तव उसका कुछ भी अस्तित्व नही रह जाता। जो सिर पर होते हैं उन्हे पैरो तले आते विलम्व नही लगता। पाश्चात्य विद्वान् विलियम जेम्स ने कहा है—"हमारे विचार और विश्वास तव तक चलते हैं जव तक उन्हें चुनौती नही दी जाती, उसी तरह जिस तरह वैंक की हुण्डियां स्वीकार किए जाने के कारण चलती रहती हैं। ठीक यही वात प्रशासन के विषय

मे है। प्रशासित वर्ग जब तक उसे मान्य करता है तब तक वह चलता रहता है, किन्तु वह उसके काले करनामो से विक्षुब्ध होकर सम्मिलित विद्रोह कर उठे तो किसी भी प्रकार का प्रशासन नही चल सकता। प्रशासन कितना भी बल-प्रयोग करे और कत्लेआम बोल दे पर उखडे हुए तथा विप्लवी प्रशासित-वर्ग को दबाने मे समर्थ नही होता। प्रशासन का बल-प्रयोग जितना तीखा होता है, विप्लव और विद्रोह की घटनाए उतनी ही अधिक घटती हैं।

प्रशासन का दूसरा दोष

प्रशासन का दूसरा दोष वैषम्य है। प्रशासन जब समत्वमय व्यवहार को छोडकर पक्षपात के कीचड मे फस जाता है तो प्रशासित वर्ग की आखो से गिर जाता है। उसके कानून-कायदो मे प्रशासितो को कोई विश्वास नही रह जाता। फिर वह कितने ही आदर्शमय नियम-उपनियम गढे और प्रसार के लिए प्रयास करे किन्तु प्रशासितो के हृदय मे उनके प्रति कोई आस्थाभाव जागृत नही हो पाता। उन सब विधि-विधानो को प्रशासित वर्ग अपने को छलने का एक उपक्रम मात्र समझता है और प्रशासन-अधिकारियो की एक चालाकी मानता है।

प्रशासन मे जब प्रशासितो की निष्ठा नही रह जाती है तो एक गहरी खाई पैदा हो जाती है।

प्रशासन-अधिकारी जब निष्कारण किसी प्रशासित के साथ मृदु और किसी प्रशासित के साथ कठोर व्यवहार करते हैं तो प्रशासितो मे भी वर्ग-चेतना उभर आती है और वे सगठित होकर विरोध करने लगते हैं। इस विरोध का अवकाश स्वय प्रशासन ही अपनी विषम-व्यवस्था से देता है।

वैषम्य-वृद्धि का एक प्रमुख कारण भाई-भतीजावाद होता है। प्रशासन अधिकारी इस धुन मे अनेक उचित-अनुचित कार्य कर बैठते हैं। प्रशासितो की उनके प्रति जो आस्था होती है वह यहा समाप्त हो जाती

है। प्रशासित-वर्ग प्रशासन-सचालको के सम्मुख भले ही कुछ न कहे पर अन्दर मे बडी उग्र प्रतिक्रिया होती हैं। विप्रतारित और जागरूक प्रशासितो मे फिर गुटबदिया होने लगती हैं। अवसर आने पर वे ब्याज सहित उगाह लेते हैं। अनेक अधिकारी इस भाई-भतीजावाद के भवर मे पडकर (गिरकर) समाप्त हो जाते हैं। वैसा न हो तो भी भाई-भतीजावाद का प्रशासन-सदन मे प्रवेश पाना उसके विनाश का लक्षण मानना चाहिए।

प्रशासन का आधार

प्रशासन का मुख्य आधार मानव सस्कृति होना चाहिए। सस्कृति के अवलम्बन पर चलनेवाला प्रशासन हार्दिक होता है, निर्मम नही। हृदय को जीतना प्रशासन की मूल नीव होती है। जो बीज हृदय को जीत लेता है उसके पनपने और फलने मे नैसर्गिक सहयोग उपलब्ध होता रहता है। प्रशासन का आशय यही होता है कि मानव के व्यापक और उदार सस्कारो को जगाए जाए। इस उदात्त सस्कृति के मुख्य आधार प्रेम, विश्वास, सहयोग और न्याय है। मानव सस्कृति का यह चतुष्टय ही विशिष्ट रूप है। ऐसी सस्कृति के बल पर ही प्रशासन चल सकता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने कहा है—"अनुशासन सस्कृति के आधार पर होना चाहिए। जो अनुशासन सस्कृति के आधार पर होगा वह उदार, महान् और स्थायी होगा। उसमे मानवता का विकास होगा, मानवीय धरातल ऊचा होगा और फिर उसमे छोटे-छोटे गुट नही होगे।"

धर्म की आवश्यकता

प्रवृत्ति-निवृत्ति

जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो अपेक्षित हैं। किसी एक को प्राधान्य देना न्यायसगत नही लगता। हर श्वास के साथ विराम बधा हुआ है। प्रत्येक निष्पन्दता स्पन्दन से प्रकम्पित है। क्रिया और क्रिया-विरति के साहचर्य से ही जीवन बना रहता है तथा विकसित होता है। किसी एक के अभाव से सर्वतोमुखी प्रगति का प्रशस्त द्वार नही खुल सकता।

पौधे को सीचा जाता है पर साथ ही उस क्रिया को बद भी किया जाता है। पौधा सीचा न जाए तो सूख जाए और रात-दिन सीचा जाए तो गल जाए। कर्म और कर्म-निवृत्ति अत्यन्त व्यापक है। सारे ससार की अवस्थिति का माध्यम यह युगल ही है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय आदि सभी उत्थानो के लिए विधि और निषेध के अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग नही है। हर आदमी भोजन, व्यवसाय, शयन आदि सभी क्रियाओ से निवृत्त होता है। बिना निवर्तन के प्रवर्तन हो नही सकता। इसी प्रकार बिना प्रवर्तन के निवर्तन का भी कोई आधार नही रह जाता। तथ्य यह है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति परस्पर सापेक्ष होकर ही रहती हैं।

धर्म का उद्देश्य सक्षेप मे प्रवृत्ति का शोधन और निवृत्ति की सीमा को विस्तीर्ण करना है। प्रत्येक मनुष्य को जीवन के लिए प्रवृत्ति करनी पडती है। उसकी आवश्यकता प्रवृत्ति से पूरी होती है। परन्तु कोई भी प्रवृत्ति

दोषपूर्ण और उत्श्रृंखल न हो यह आवश्यक है। मनुष्य बोलता है किन्तु वह असत्य, कटु, अप्रिय न बोले, अधिक न बोले—यह नियत्रण उसकी जल्पन क्रिया को विशुद्ध और सयत करता है। इस प्रकार का नियमन समस्त क्रियाओ पर अपेक्षित है।

मनुष्य के प्राकृतिक असामर्थ्य से कुछ तो स्वय ही नियत्रण रह जाता है और कुछ समाज तथा राज्य के भय से रखना पडता है। परन्तु इस तरह के नियत्रण को वास्तविक नियत्रण नही कहा जा सकता। क्योकि अवसर मिलते ही मनुष्य उसकी अवज्ञा करने पर उतारू हो जाता है। इसलिए नैतिक नियत्रण की अपेक्षा रहती है, जिसको मनुष्य अपने द्वारा ही अपने पर लागू करता है। यहा किसी दूसरे का दबाव नही होता, केवल आत्म-कृत नियमन ही होता है, जो कि बहुत स्थायी और कारगर होता है। व्यक्ति बुराई करता है, दूषित कर्म करता है। उसे कानून और भय बचा ही लेंगे—ऐसा निश्चित नही है। कम से कम मानसिक पतन से तो वह बच ही नही सकता। इस पाप से उसे उसका आत्म-जागरण ही बचा सकता है।

धर्म का यही तकाजा है कि मनुष्य अपने आप पर अपने आप ही सयम रखे, अपने आचरण को कलुषित न होने दे और सीमा से बाहर न पसरने दे।

वर्तमान की जिन समस्याओ से विश्व व्याकुल है, उनमे से अधिकाश का उद्‌गम व्यावहारिक कलुषता तथा असयतता ही है। इसीलिए विचारकों की दृष्टि मे राजनैतिक, आर्थिक आदि समस्याओ से भी बढकर नैतिकता की समस्या चिन्तनीय है। वे उसका समाधान खोजना अनिवार्य समझते हैं। उनका यह विचार पत्तो, फूलो और फलो को सीचने की अपेक्षा मूल को सीच देने के समान उचित और लाभदायक है।

आज जो नैतिक चरित्र की गिरावट हुई है, उसी के फलस्वरूप अनेक उलझनें पैदा हुई हैं। राष्ट्रो-राष्ट्रो मे जो पारस्परिक तनाव, भय और क्षोभ व्याप्त है, उसके नीचे विभिन्न देशो की अनीतिया ही कारण हैं। एक राष्ट्र

अपने विकास के लिए जब दूसरे राष्ट्र को दबाना चाहता है, उससे अनुचित लाभ उठाने की इच्छा करता है, तब सघर्ष पैदा होता है, वैमनस्य बढता है और फिर भीषण सकट का वातावरण बन जाता है। अन्तत यही स्थिति युद्ध और विश्व-युद्ध की भूमिका बन जाया करती है।

सामाजिक और वैयक्तिक कठिनाइयो का मूल भी इसी असदाचार एव असयम मे छिपा है। समाज मे जितने वर्ग है, उन सबके कामो मे पवित्रता अपेक्षित है। किन्तु इस समय वह नजर नही आ रही है। ईमानदारी और सच्चाई घुलती जा रही है। व्यापारी मिलावट करता है। कम तोल-माप करता है। अधिकारी रिश्वत लेता है। कर्मचारी काम से मन चुराता है, किन्तु वेतन-वृद्धि के लिए झगडता है। ठेकेदार बडे-बडे गबन कर जाता है। उद्योगपति शोषण करता है। मजदूर अपने कर्तव्य-पालन की अपेक्षा सघर्ष का अधिक ध्यान रखता है और आये-दिन हडताल की धमकी देता रहता है। तात्पर्य यह कि सब अपना स्वार्थ गाठना चाहते है। दूसरो के हित से उन्हे कोई मतलब नही। बस यही भावना और विकृत-व्यवहार जीवन के पथ को कटकाकीर्ण बना देता है। वर्तमान मे भावो की उदात्तता और आचरण-सौष्ठव विशाल पैमाने पर विलुप्त हो चुका है। लोग बन्धुत्व, परोपकार और समत्व को अधिकाश मे गवा बैठे है। यही कारण है कि कुछ लोग मौज उडाते हैं और विभिन्न वस्तुओ की विलासिताए बरबाद करते है। उसी के परिणामस्वरूप अनेक लोग भूखे मरते है। उन्हे न तो पहनने के लिए पर्याप्त वस्त्र मिल पाते हैं और न रहने के लिए स्थान। यह समाज मे बहुत बडी विषमता है। इसी से सारा वातावरण विषाक्त बनता है। गरीबी, अशिक्षा, बेकारी और रोग—ये सब इसी वैषम्य-विष-वृक्ष की देन हैं। कुछ लोग अपनी चालाकी से दूसरो को ठगते हैं और उनकी असमर्थता का दुरुपयोग करते हैं, उनका खून चूसते है। स्वाभाविक ही है कि इस पद्धति से अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब होता जाता है। यही कारण है कि विविध योजनाओ के चलते हुए भी राष्ट्र के सामने ये दीर्घकालिक समस्याए मुह बाए ज्यो

की त्यो खडी हैं। इनका यदि कोई समाधान है तो वह है जन-मानस को वदलना, समाज मे समता सस्थापन करना और नैतिक धरातल को ऊचा उठाना।

धर्म का प्रवर्तन इसी उपर्युक्त भावना को लक्ष्य मे रखकर हुआ है। धर्म समत्व-भावना को व्यापक वनाना चाहता है। कर्म की अशुद्धि को मिटाना और सयम की वृद्धि करना धर्म का प्रथम ध्येय है।

मानसिक संयम

मूल को पकडना ही अधिक वास्तविक होता है। जड को सीचने से समग्र वृक्ष अभिषिक्त हो जाता है। व्यक्ति-व्यक्ति का सुधार ही विश्व-सुधार की मूल वीथिका है। व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियो मे मन ही मूल है। इतर सब प्रवृत्तिया उससे सचालित होती हैं। मन की तुलना पावर हाउस से की जा सकती है। उसमे जब तक बिजली नही जाती तब तक अन्य किसी स्थान में नही जा सकती। वह वहा जाने के बाद ही बल्ब जला सकती है, पखा चला सकती है, रेडियो सुना सकती है, सिनेमा दिखा सकती है और बडी-बडी मशीनो को घुमा सकती है। इतना सब करते हुए भी वह अदृश्य रहती है, उसकी प्रवृत्ति के परिणाम ही देखे जा सकते हैं, उसको नही।

मन भी अदृश्य है। उसको कोई भी इन चक्षुओ से नही देख सकता। उसमे क्या सकल्प-विकल्प उठते हैं, कोई नही जान पाता। मन मे क्रोध की लहरें उठती रहे, दर्प की रेखाए खिचती रहें, कितना ही लोभ का पारावार लहराता रहे, कितनी ही तृष्णा की भट्ठी जलती रहे, कितने ही विकार के फेन तैरते रहे, किसी को भी कुछ पता नही चलता, यदि ये भावनाए चेहरे पर न आए—शरीर का स्पर्श न पाएं।

मनोविशेषज्ञ भाव-भगिमा, आकृति, चाल-ढाल, आवाज, आखें आदि के आधार पर मन को पकडने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह पकडा नही जा सकता। उसका स्वरूप अरूप है—अमूर्त है। उन्हें जो मानव-ग्रहण का आभास मिलता है उसका हेतु भी यह है कि मन अपनी प्रवृत्तियो को

सूक्ष्माश मे वाचिक तथा कायिक रूप प्रदान कर देता है।

मन आत्मा का एक अश है। वैसे आत्मा एक अखड द्रव्य है। उसके टुकडे नही किए जा सकते। अत अंश कहना असगत-सा प्रतीत होता है, परन्तु ज्ञानात्मक स्वभाव से एक स्वरूप विद्या का भी विवक्षा से गणित, ज्योतिष, वाणिज्य, अध्यात्म आदि विभागो मे विभाजित कर लिया जाता है। इसी कल्पना से आत्मा के अश मानने मे कोई वाधा दृष्टिगोचर नही होती।

मन की अपार शक्ति है। वह जो सुदृढ सकल्प कर लेता है उसको पूर्ण करने मे समग्र शक्ति लगा देता है। उसमे वही विचार घूमता रहता है। अन्त मे उस कार्य को सम्पन्न करके ही मन विश्राम लेता है।

बन्धन और मुक्ति दोनो ही मन के हाथ मे हैं। एक सस्कृत कवि ने कहा है—

मन एव मनुष्याणा कारण बन्ध मोक्षयो ।
वध्यते विषयासक्त मुक्त निर्विषय मन ॥

—व्यक्ति के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। मन विषयासक्त, बन्धनकारक और निर्विषय मोक्षदायक है। इसी सत्य को मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने अपनी कविता मे यो गुम्फित किया है—

"मन का ही विश्वास मनुज को तार-मार सकता है।"

निष्कर्ष यह है कि मन ही सब कुछ है। शकराचार्य ने अपने ही प्रश्न के उत्तर मे कहा है —"तीर्थं पर किं ? स्वमनो विशुद्धम् ।" उत्कृष्ट तीर्थं क्या है ? अपना विशुद्ध मन। एक अन्य कवि ने कहा है, "जाके मन मे अटक है सो ही अटक रहा।" यहा कोई भी रुकावट नही चाहे निरन्तर आगे बढो, पर जिसके मन मे रुकावट है, तो उसके लिए सभी जगह रुकावट है। सुविधा और दुविधा मन ही उत्पन्न कर लेता है अन्यथा तो कुछ भी नही। वाह्य परिस्थितिया कितनी भी भीषण सामने हो, पर मन जब तक उनको स्वीकार नही कर लेता तब तक वे कुछ भी नही कर सकती।

मन ही मित्र, अमित्र, उदार, अनुदार, उन्नत, अनुन्नत, धनिक और गरीब है। भर्तृहरि ने यही तो व्यक्त किया है कि, "मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान को दरिद्र"। मन सन्तुष्ट है तो कोई भी दरिद्र नही, यह सब तो मन की भावना के ही द्योतक हैं, इसके अतिरिक्त कुछ भी नही। यहा सारा का सारा खेल मन का ही है। किसी मर्मज्ञ कवि ने इसी का रहस्योद्घाटन किया, "मन पर निश्चित खेल सब तन तो मन का दास"। इस विवेचन का फलितार्थ यह है कि मन सर्वोपरि शक्ति है।

मन की धारा ही जीवन के समस्त क्षेत्रो को सीचती है। इसलिए इसी धारा पर नियन्त्रण पाना अधिक उपयुक्त है। इस पर सम्पूर्ण रूप से कावू पा लेना, सब पर अधिकार पा लेना है। मन को बदले बिना और उसको वश किए बिना अन्य सब परिस्थितियो को परिवर्तित कर देना और उन पर आधिपत्य जमा लेना भी कोई अर्थ नही रखता। वेशभूषा और स्थान-परिवर्तन से कोई भी अर्थ सिद्ध नही होता। मन-परिवर्तन से ही वास्तविक अर्थ सधता है। कहा जाता है कि "वनेपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणा, निवृत्त रागस्य गृहे तपोवनम्"। रागवान् मन-मन मे भी दोष पैदा कर लेता है और वीतराग के लिए घर भी तपोवन है। इसका तात्पर्य यह है कि मन की शुद्धि और अशुद्धि ही विशेष महत्त्व रखती है, वाह्य वातावरण विशेष महत्त्व नही रखते। इसलिए मन को जीतना ही मौलिक कर्म माना जाता है और इसी को बदलने के लिए विशेष बल दिया जाता है। कबीरजी ने कहा है—"कर-का मन का छाडिके, मन का मनका फेर।" मन को परिवर्तित करना और मन को जीतना ही सभी विजयो का मूल है। शकराचार्य ने कहा है—"जित जगत् केन ? मनो हि येन।" उसने सारा ससार जीत लिया जिसने अपने मन पर विजय पा ली। इस परम सत्य को भगवान् महावीर ने यो कहा है—"सव्व मप्पे जिए जिय (सर्वमात्मनि जिते जित)।" आत्मा को जीतने वाले ने सबको जीत लिया इसलिए मन का सुधार और सयम सब व्यवहारो के सुधारो एव सयमो का मूल है।

मन बहुत चचल है। इसकी गति इतनी तीव्र है कि वर्तमान के किसी

भी वैज्ञानिक आविष्कार की नही। इसकी चाल बहुत ही वक्र तथा चपल है। किसी मनोवैज्ञानिक कवि ने कहा है—

"महा अटपटी द्वन्द्वमय मन की अद्‌भुत चाल,
पल-पल रग बदलती ज्यो गिरगिट की खाल।"

इस प्रकार जो प्रतिक्षण रग बदलता रहे उसका निग्रह वस्तुत बहुत ही कठिन है। गीता मे स्वय कृष्ण ने कहा है कि 'मनस निग्रह मन्ये, वायोरिव सुदुष्कर"। मन का निग्रह वायु-निग्रह के समान दुष्कर है। मन की चपलता सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। हर छोटे-छोटे स्थान पर यह फिसल जाता है। कोई रूप आखो के आगे आते ही वह विकार जगा देता है। कोई भी गीत सुनाई पडता है, मन उधर ही चला जाना चाहता है। खाने-पीने की कोई चीज सामने आयी कि जीभ की लोलुपता को जाग्रत कर देता है। स्पर्श के विषय मे भी इतना ही लुब्ध है। अर्थ-प्राप्ति के मामले मे वह बहुत ही मुग्ध है। उसे हर कोई चीज भटका सकती है। अनुकूल परिस्थितियो मे मोहावृत्त और प्रतिकूल वातावरण मे द्वेषाकुल हो जाता है, किन्तु समता और सन्तुलन रखना उसके लिए प्राय कठिन-सा है।

घृणा, मात्सर्य, लालच, वासना, लोलुपता, हठवादिता, छल, कपट आदि अनेक दुर्गुणो मे वह लिप्त रहता है।

औदार्य, गाम्भीर्य, समता, सयम और परोपकारिता आदि सार्वभौम सद्‌गुणो मे बहुत ही कम रमण कर पाता है।

सयम का उपाय

मानसिक सयम की अनिवार्यता के पश्चात् उसके उपायो पर विचार अपेक्षित है। मानसिक सयम के लिए सक्षेप मे दो ही उपायो का विशेष उल्लेख हो सकता है—

१ वस्तु का यथास्वरूप निरीक्षण।

वस्तु के यथास्वरूप निरीक्षण का अर्थ यह है कि—वस्तु के मूल को परख लेना, उसके स्वरूप को जान लेना। यहा थोडी अन्तर्दृष्टि से काम लेना आवश्यक होता है। व्यक्ति उसी वस्तु के विषय मे अधिक लालायित और मुग्ध रहता है जिसमे वह आकर्षण महसूस करता है। खाने, पीने, पहनने, ओढने की साधारण वस्तुओ से लेकर सभी वे ही वस्तुए व्यक्ति को भ्रान्त बनाती हैं जिनका असली रूप वह जान नही जाता। पैसे की नश्वरता, परिवार की अस्थिरता और भोग की असारता को वह ठीक तरह से जान जाए तो उसका सयम खडित नही होगा। पद की भावना, नाम की कामना, अमर होने की इच्छा आदि सभी चीजें मनुष्य के मस्तिष्क में तभी उत्पन्न होती हैं जब वह उनकी अन्त स्थिति नही पहचान पाता। मन इसीलिए गिरता है कि वह इन चीजो को अत्यधिक महत्त्व देता है। उनका यथार्थ निर्णय नही कर पाता अत मन को सयमित रखने का प्रथम मार्ग वस्तु का यथास्वरूप निरीक्षण है।

मन को वश मे करने का दूसरा मार्ग क्रमिक अभ्यास है। कहा गया है कि "अभ्यासेन क्रिया सर्वा अभ्यासात् सकला कला।" अभ्यास से सब क्रियाए और सब कलाए सीखी जा सकती है। सयम की कला भी उससे अछूती नही रहती। एक कार्य को बार-बार करके व्यक्ति उसे बहुत ही सुन्दर और स्थायी बनाना सीख जाता है। कुम्भकार पहले ही दिन इतना कलापूर्ण घडा नही बना लेता। वह तो उसके क्रमिक अभ्यास का ही सुपरिणाम है। मानसिक सयम भी एक ही बार मे नही प्राप्त होता। उसके लिए भी निरन्तर वैसा प्रयास करना होता है। तभी मन को स्थिर, सयत, सतुलित और सत्य बनाया जा सकता है। मन को साध लेने का अर्थ है अपने जीवन को साध लेना और चिरन्तन सुख को पा लेना।

भावात्मक एकत्व : सृजन का प्रतीक

एकत्व सृजन का और विघटन विनाश का प्रतीक है। एकत्व का आशय है नियोजित तथा सुनियन्त्रित सम्बद्धता। शरीर, सदन, समुद्र और समाज इसी सम्बद्ध सघटना से प्रसूत हैं। इनकी यह सघटना टूट जाए तो ये सभी विखर जाए। ऐक्य की कडी ही इनको बनाये रखती है। एकता एक निर्माणात्मक शक्ति है। चुभने वाले काटे भी बाड का रूप पाकर खेत की सुरक्षा का भार लेते हैं।

वर्तमान के स्पुतनिक युग मे सभी वस्तुओ का विस्तार हुआ है। सहारक अस्त्र-शस्त्रो की प्रगति ने तो दुनिया को मृत्यु के किनारे ला पटका है। और यही कारण है कि आज समग्र विश्व चौमुखी उन्नति के उपरान्त भी भय-विह्वल और सकट-सत्रस्त है।

वर्तमान की अस्त्र-शस्त्रो के निर्माण की होड ने तथा भौतिक सुख-सुविधा की समृद्धि ने जहा शान्ति के पथ को आवृत किया है वहा उभारा भी है। आज की अतिशय विकलता ने ही मनुष्य को मैत्री भाव तथा परस्पर की सहृदयता के लिए उत्प्रेरित किया है। वर्तमान तनाव की स्थितिया ही भावात्मक एकता की उत्सव बनी है।

भावात्मक एकता का मतलब है—मानसिक सबद्धता—परस्पर की हित-कामना की जागरुकता अथवा प्रत्येक की उन्नति मे सहयोग की प्रखर भावना। भावात्मक एकता मे धर्म, वर्ग, प्रान्त और भाषाओ के वैविध्य की समाप्ति अभीष्ट नही है। अभीष्ट है उनमे सबद्धता स्थापित करना। दृष्टि विशेष से उनकी एकात्मकता स्वीकार करना। सघर्ष अनेकता की

आ जाता है। परिवार के सदस्य तो एक ही घर मे रहते है, फिर क्या उनमे कभी तनाव नही आ जाता ? हिन्दू और मुसलमान दोनो भारत में वर्षों मे साथ रहते आ रहे है पर जब भावात्मक एकता टूटी तो कितना नर-सहार हुआ और किस प्रकार मा-बहनो की इज्जत लूटी गई। कितने वीभत्स और घृणास्पद दृश्य उत्पन्न हुए। कितना भयकर रक्तपात हुआ। भावात्मक एकता टूटते ही सारे सम्बन्ध विशृखलित हो जाते हैं। स्पुतनिक, रॉकेट और वायुयान आकाश मे दूर उडते हैं, अन्तरिक्ष की परिधि का भी उल्लघन कर जाते हैं, फिर भी धरती से उनका एक अदृश्य सम्बन्ध बना रहता है। उसी के आधार पर समस्त प्रक्रिया चलती है और पृथ्वीवासियो को नयी से नयी जानकारी उपलब्ध होती है। किन्तु वह सम्बन्ध टूट जाए तो एकदम अस्त-व्यस्तता हो जाती है। रॉकेटो और वायुयानो का क्या होता है ? वे कहा गिरते हैं ? कुछ भी पता नही चलता। यही बात भावात्मक एकता के विषय मे है। उसके खडित होने पर भी मनुष्य-मनुष्य के बीच क्या कुछ होता है—कुछ पता नही रहता।

भावात्मकता की आवश्यकता सदा रही है किन्तु वर्तमान दुनिया मे वह अत्यन्त जरूरी है क्योकि आज विशाल पैमाने पर अनेकता फैल चुकी है। सारा ससार शीत-युद्ध के कारण व्यग्र और आतकित है। इसीलिए सह-अस्तित्व की बात उठी है। अणु अस्त्रो की रोक की माग मे और निशस्त्रीकरण के अनुरोधो मे भी यही व्यापक भावना निहित है। जीवन के विकास के लिए यह सब करना अनिवार्य प्रतीत होता है।

भावात्मक एकता का मार्ग है—मनुष्य अपने को सहिष्णु और उदार बनाए। दूसरो के विचारो और दृष्टिकोणो को समझने का प्रयास करे। विरोधी विचारधाराओ का आशय समझकर जब तक सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न न होगा तब तक भावात्मक एकता का पथ प्रशस्त नही हो सकता।

भावात्मक एकता के प्रसार-हेतु बहुत बडी तितिक्षा अपेक्षित है। सूखे ठूठ के समान अडा रहने वाला दृष्टिकोण कही भी सफल नही हो पाता,

सदाचार के अवरोध

सदाचार से ही समाज प्राणवान्

मैं बहुत-बहुत अन्तर्द्वन्द्व और मनो-मन्थन के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुचा हूं कि सदाचार के बिना आदमी शान्ति नही पा सकता, उसके बिना सामाजिकता भी नही टिक सकती।

मनुष्य का जो सामाजिक रूप है, वह भी सदाचार के परिप्रेक्ष्य मे ही है। सदाचार के बिना समाज पशुओ का समूह और मनुष्य हड्डियो का ढेर मात्र रह जाता है। उसमे जीवन-तत्त्व नही रहता।

सदाचार ही वह शक्ति है जो समाज को प्राणवान् बनाये रखती है और मानवीय सम्बन्धो को सुचारु रूप से निभाती है।

सद्वृत्ति का प्रकाश जब मन्द पड जाता है तब समाज मे वैमनस्य, कटुता, भ्रष्टाचार और अत्याचार पनपने लगता है, उस स्थिति मे समाज की स्थिति बडी भयानक और बीभत्स बन जाती है। मानवीय गौरव समाप्त हो जाता है। समस्त विश्व एक अजीब अराजकता से ग्रस्त हो जाता है। इस तरह सदाचार प्राणवायु की तरह आवश्यक है।

सदाचार का अर्थ

सदाचार का अर्थ है—सम्यक् आचरण। सयम, सत्य, प्रामाणिकता, न्याय, मैत्री और सहानुभूति—इनका सामूहिक नाम ही सदाचार है। सदाचार मे जिन उपर्युक्त तत्त्वो ने समावेश पाया है, वे समाज के लिए

वहुत जरूरी हैं। मनुष्य इन सवका परित्याग कर दे तो उसकी स्वय की और समाज की स्थिति वहुत विद्रूप वन जाती है तथा समाज मे अतिशय अशान्ति फैल जाती है। इतना सव जानते हुए भी लगता है सदाचार के प्रति मनुष्य की जो निष्ठा और उत्सर्ग-भाव चाहिए वह हृदय मे जड नही जमा पाता। इसीलिए नैतिकता नही पनपती।

किसी वृक्ष की जड़ें तभी जमती और फैलती हैं जब कोई रुकावट न हो और उनके उपयुक्त क्षेत्र हो। अवरोधो के होते हुए जड़ें नही जम पाती।

सदाचार के पनपने मे कुछ अवरोध है। उन वाधाओ के रहते हुए सदाचार नही फैल सकता। उन अवरोधो को मिटाना आवश्यक है, तभी सदाचार का वृक्ष पल्लवित, पुष्पित और फलित हो सकता है।

सदाचार के अवरोध

सदाचार के प्रसार मे दो अवरोध हैं—आन्तरिक और वाह्य। दूसरे शब्दो मे इन्हे वैयक्तिक और सामाजिक भी कहा जा सकता है।

वैयक्तिकता और सामाजिकता मे गहरा सम्वन्ध है। व्यक्ति का प्रभाव समाज पर पडता है और समाज का व्यक्ति पर। दोनो मे अत्यन्त सापेक्षता है। व्यक्ति का निखरा हुआ व्यक्तित्व समाज को प्रभावित करता है और उचित दिशा-दर्शन देता है। समाज की पवित्रता और संस्कृति व्यक्ति को आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा देती है। समाज का व्यवहार यदि कलुषित और शिथिल होता है तो व्यक्ति को भी मलिन और शिथिल वनने का निमित्त वनता है। एक की प्रतिच्छाया दूसरे पर प्रतिबिम्वित होती है। वैयक्तिक अवरोध सामाजिक अवरोध के कारण वनते हैं और सामाजिक अवरोध वैयक्तिक अवरोध के।

वैयक्तिक अवरोध तीन तरह के हैं और सामाजिक अवरोध दो तरह के। यो पाच अवरोध हैं जो ससार मे सद्वृत्त के प्रसार मे वाधक वनते हैं।

प्रथम अवरोध—अनास्था

वैयक्तिक अवरोधो मे प्रथम है—सदाचार के प्रति अनास्था। हर कार्य की सबसे पहली रुकावट तो मनुष्य की अपनी अश्रद्धा ही होती है। उसका जब गहरे हृदय से किसी के प्रति आकर्षण नही होता और उसकी समर्थता मे विश्वास नही होता तब वह उस कार्य को आचरण मे नही ला पाता। किसी विषय को ध्येय रूप मे अपनाने के लिए सबल श्रद्धा की आवश्यकता होती है। जब तक मन मे निष्ठा नही होती तब तक अनेक बार उसकी उपयोगिता बताने पर भी मनुष्य उस दिशा मे गतिशील नही हो पाता। उसको उस दिशा मे अग्रसर बनाने के लिए उस विषय की क्षमता मे उसकी प्रगाढ आस्था ही कार्य करती है। आज मनुष्य मे सदाचरण के प्रति आस्था का अभाव है, उसे उसकी सबलता पर विश्वास नही। उसका मन शकाकुल रहता है। इसलिए वह उसे अपने आचरण मे नही उतार पाता।

आज मनुष्य की धारणा बन गई है कि वर्तमान के विषम समय मे अहिंसा, सत्य और नैतिकता—एक शब्द मे सदाचार—कारगर नही हो सकता। सदाचार का पुजारी आज पिछड जाता है। वह आज की दुनिया के साथ ताल-मेल नही बिठा पाता। अर्थ मे पिछडा व्यक्ति सभी क्षेत्रो मे पिछड जाता है। न उसे सामाजिक सम्मान मिलता है और न भौतिक सुख-सुविधाए ही। परिणाम यह होता है कि वह अपनी असम्पन्न अवस्था मे खिन्न और व्यग्र रहता है। अन्तत अर्थार्जन के लिए सभी कुछ प्रारम्भ कर देता है। उक्त प्रकार की मान्यता ने चरित्र के प्रसार मे सबसे सबल और विस्तृत स्तर पर रुकावट पैदा की है। चरित्र-प्रसार के लिए सच्चरित्र के प्रति सुदृढ आस्था को जागृत करना होगा और इस अश्रद्धा को जड-मूल से उखाडना होगा।

सवेदन का अभाव

दूसरा वैयक्तिक अवरोध है—सवेदन का अभाव। वर्तमान का मनुष्य बहुत स्वनिष्ठ हो गया है। वह अपने विषय मे ही चिन्तनशील रहता है, अपनी परिधि के पार उसे कुछ दिखाई नही पडता। अपने को सुखी और समृद्ध बनाने मे वह अपनी बुद्धि और शक्ति को लगाये रहता है। आस-पास मे कितनी पीडा और कितना अभाव है, लोग दु ख मे किस प्रकार विलविला रहे हैं, भूखे बच्चे किस तरह विलख रहे हैं, यह उसे बिलकुल भी नही सूझता। वह तो अपने को ही सुरक्षित रखना चाहता है और अपना ही खजाना भरना चाहता है। इस सग्रह मे दूसरो का कितना शोषण हो जाता है और कितने लोगो का खून चूस लिया जाता है इसकी सवेदना वर्तमान के मनुष्य मे नही रही। यदि उसका हृदय थोडा भी मुलायम हो और दूसरो की व्यथा, व्याकुलता और विवशता को पहचानने का सवेदन हो तो वह शोषणपरक तथा अनैतिक कार्य नही कर सकता और सदाचार से च्युत नही हो सकता। जब दूसरो के साथ आत्मीय भाव और ऐक्य की अनुभूति की जाती है तब दूसरो को दबाया और धमकाया नही जा सकता, क्योकि उसे परायी पीडा भी स्व-पीडा के समान ही लगती है। वह स्वय जिस व्यवहार को नही चाहता, उससे दूसरो को भी बचाने का प्रयत्न करेगा। मनुष्य को जब एकता की अनुभूति होने लगती है, तब बडे-बड़े सघर्पो की शवयात्रा निकल जाती है और महान् अभावो की पूर्ति हो जाती है। आदमी की ऐक्य भावना जितनी प्रबल और विस्तीर्ण होती है, ससार मे उतना ही सुख-समृद्धि का विस्तार होता है।

मनुष्य को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह सहानुभूति के बिना आनन्द का जीवन नही जी सकता। उसके पास-पडोस का वातावरण धूमिल तथा उष्ण है तो वह कभी शान्ति नही पा सकता। निकट की गर्मी उसे अवश्य सतायेगी।

मनुष्य पत्थर के समान जडात्मा नही है कि उस पर किसी चीज का असर न हो, वह एक चैतन्यमय प्राणी है, उसमे स्पन्दनशीलता है। निष्ठुरता और कोमलता को पहचानने की शक्ति है, वह इस्पात के हृदय वाला कैसे हो सकता है ! उसमे जो मार्दव भाव है वह कहा विलुप्त हो ?

मनुष्य का सवेदन कभी कुण्ठित नही होना चाहिए और अपनी सीमा को लाघकर देखने की क्षमता होनी चाहिए। मनुष्य मे सवेदन का भाव जितना गहरा होगा उतना अनैतिक तथा अत्याचार का कार्य रुकेगा तथा सदाचार का प्रसार होगा।

परिग्रह वृत्ति

तीसरा वैयक्तिक अवरोध है—परिग्रह वृत्ति। मनुष्य मे आज सग्रह की प्रवृत्ति बहुत बढ गई है। कितना भी मिल जाए उसका मन सतुष्ट नहीं होता। आशाए आगे से आगे अपने पख फैलाती चली जाती हैं। आशा एक ऐसा भाव है, जिसका कोई उपचार नही और कोई पार नही। ज्यो-ज्यो मनुष्य को प्राप्त होता है त्यो-त्यो नयी कल्पना अगडाई लेने लगती है। अर्थार्जन का चक्का इतने वेग से घूम रहा है, इसमे कुछ भी नही बच पाता, सब कुछ कट जाता है।

मनुष्य की आशाए बहुत प्रलम्ब हैं। उसका जीवन समाप्त हो जाता है पर सग्रह-आशा पूर्ण नही होती। सग्रह की इस अंधी भावना ने ससार मे बडी उथल-पुथल मचा रखी है। जितने मन-मुटाव, उत्पात, आक्रमण और युद्ध होते हैं—सभी की जननी यह सग्रह वृत्ति है। मनुष्य पर सग्रह वृत्ति का ऐसा नशा चढा है कि उसमे कोई विवेचना-शक्ति नही रही। नैतिक-अनैतिक का कोई भेद नही रहा। कैसे ही आए, कैसा ही जाए, कितना ही आए, समुद्र की तरह उदरस्थ कर लेना ही मनुष्य का कार्य रह गया है। आज मनुष्य के पास धन तो बढा है पर उसकी मानवता चौपट हो गई है। उसकी सुख-शाति भस्म हो गई है। बडे से बडा —— [illegible] और अशान्त रहता है।

झूठ, कपट, लूट-खसोट, भ्रष्टाचार और रिश्वत आदि सभी दुर्गुण उसी परिग्रह भावना की सन्तानें हैं। पैसे के लिए मनुष्य हर प्रकार का अन्याय और अनर्थ करने के लिए तैयार रहता है। न वह प्रान्त देखता है और न देश। धन के लिए वह सबको धोखा दे सकता है। यही कारण है कि आज का मनुष्य टूटा-टूटा और सहमा-सहमा रहता है क्योकि अनैतिकता करके वह निर्द्वन्द्व और निर्भय नही रह सकता। चरित्र की गिरावट सबसे अधिक यही वृत्ति कराती है। यह तो छलनी के समान है जिसमे छेद ही छेद है। सदाचार के विकास मे यह बहुत बडा विघ्न है। मनुष्य अपनी सग्रह वृत्ति पर अकुश लगाए तभी वह नैतिकता के प्रसार मे योग दे सकता है।

सामाजिक अवरोध—कथन और क्रिया की विसगति

सामाजिक अवरोधो मे प्रथम है—कथन और क्रिया की विसगति। सदाचार के कोमल अंकुर पर सबसे सबल चोट कथन-क्रिया की विपमता ही है। मनुष्य के मन मे बार-बार के चिन्तन-मनन से जो आदर्शोन्मुख भाव उत्पन्न होता है, कथनी-करनी के बेमेल का उत्ताप लगते ही भस्म हो जाता है।

आदमी बडी उलझन मे पड जाता है कि जिस सत्य को बहुत छान-कर उपलब्ध किया, गहरे मन्थन से जिसे जागृत कर हृदय-मदिर मे गाढ श्रद्धा से बिठाया, वह विहग एक ही क्षण मे उड गया। अकसर उक्त प्रकार की घटना से उसे बहुत क्लेश होता है। बडे-बडे लोगो को भी जब वह अपने सिद्धान्तो को निगलते देखता है, उज्ज्वल वक्तव्यो पर कालिख पोतते देखता है और आदर्शों को मिट्टी में मिलते देखता है तो उसके अन्त करण मे बडी कसमसाहट होती है। और इस विपम वेला मे उसका अर्जित सारा आलोक तिमिर मे परिणत हो जाता है। पता नही उस समय क्यो स्वर्ण से विश्वास उठ जाता है, लोहा ही सत्य दीखने लगता है। उस अन्तर् पीडा की क्या व्याख्या की जाए कि जब व्यक्ति सम्यक्त्व से

मिथ्यात्व की ओर ढकेला जाता है ।

मन मे सनसनी करता हुआ विचार कौंधता है, जब विज्ञ, परमार्थी और धर्म-प्राण कहे जाने वाले व्यक्ति भी अपने अह की रक्षा के लिए सत्य की यो हत्या करते हैं और बडी प्रसन्नता से लोगो की आखो मे धूल झोकते हैं तो क्या सत्य का अस्तित्व है ? और श्रद्धा कपूर की तरह उडने लगती है कि स्वार्थ-साधन से अलग क्या कोई सदाचार है ?

वस्तुत मनुष्यो को भटकाने मे सिद्धान्त क्रिया की विसगति बहुत बडा कारण बनती है । महापुरुष का लक्षण मन, वचन और तन की एकता ही माना गया है । वहा जब उसे द्वैध दिखता है तो उसकी सदाचार की भावना को बहुत बडा धक्का लगता है, उसकी सदाचार से श्रद्धा हिल उठती है और यह भाव सदाचार के पनपने मे सामूहिक रूप से अवरोध पैदा करता है ।

अनैतिक व्यक्ति का सम्मान

दूसरा सामाजिक अवरोध है—अनैतिक व्यक्ति का सम्मान । जो व्यक्ति अनुचित तरीको से द्रव्यार्जन करता है, जनता और सरकार को धोखा देता है, वडे-बडे हिंसाकाण्ड करा देता है, उस व्यक्ति को जब सब ओर से सम्मान मिलता है, सब उसे हर कार्य-आयोजन मे सभापति बनाने को आतुर रहते हैं तब भी मनुष्य के सम्मुख अधेरा छा जाता है । जिसे लोग सरकार का चोर, जनता का शोषक और उत्पीडक मानते हैं उसे ही जब उच्च पद पर आसीन किया जाता है तो मनुष्य को मतिभ्रम हो जाता है । वह सोचने लगता है—नैतिकरण और चरित्र कुछ नही, पैसा ही शक्ति-सम्पन्न है । भले-बुरे का सवाल व्यर्थ है, आदमी की गठरी पूरी हो तो सब कुछ ठीक है, सब सुविधाए हैं, ठाट-बाट है । सब लोग उसकी मुट्ठी मे है । सब ओर उसका सम्मान है । मौलिक चीज धन ही है, चरित्र नही ।

मनुष्य की जब उक्त प्रकार की धारणा बन जाती है तब परिणाम

वहुत भयानक होता है। इस भावना से मनुष्य धन के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाता है, जो सव दुर्गुणो और पापो की खान होता है। अत आवश्यकता है समाज मे त्यागियो और नैतिको की प्रतिष्ठा हो, सग्रहशीलोकी नही ।

समाज मे प्रामाणिक और स्वथ्य-सदाचारमय जीवन जीने वालो को जितना सम्मान दिया जायेगा, उतना ही समाज मे सदाचार के लिए आकर्पण बढेगा और नैतिक जीवन जीने का वातावरण बढेगा।

मुक्ति के लिए संकल्प-बल

मनुष्य के समस्त दु खो की जड बन्धन है। बन्द पडा पानी सड उठता है। बन्द पडी मशीन बेकार हो जाती है। बन्द पडा भव्य भवन दूषित वायु का शिकार हो जाता है। बद्ध मानस जड तथा निर्वीर्य बन जाता है।

बन्धन की उत्पत्ति बाहर से नही, अन्दर से होती है। जो अन्दर से मुक्त है उस पर कोई बाह्य बन्धन नही ठहर सकता। व्यक्ति स्वय अपने को न बाधे तो किसी मे कोई शक्ति नही जो उसे बाध सके।

मनुष्य स्वय ही ममता, अज्ञान या भयवश अपने को बाध लेता है और अनेक कष्टो को सहन करता है। वह स्वय यदि अपनी आत्मा को न गिराए तथा निर्बलता न लाये तो उसको दुःखी तथा व्यथित कोई नही बना सकता।

जो स्वय अपने को अज्ञ, अयोग्य और कमजोर समझता है उसी को दूसरे दबाते हैं और अनुचित लाभ उठाते हैं। आग जब तक उष्ण होती है तब तक उसे कोई भी पैरो से रौंदने की नही सोचता, परन्तु जब वह अपने स्वरूप से गिरकर ठडी हो जाती है तो छोटा-सा बच्चा भी उसे पैरो से रौंद डालता है और मुट्ठी भर-भरकर उडा देता है।

मनुष्य की इससे बडी भूल कोई नही है कि वह अपने स्वत्व को किसी के चरणो मे समर्पित कर देता है। वह हर जगह इतना अधिक बंध जाता है कि अन्याय और अत्याचार को सहता हुआ भी उससे अपने को अलग नही कर पाता। मात्र जिसे ढकोसला मानता है उससे भी वह इतना घनिष्ठ अनुबन्ध निभाता है कि वहा से छुटकारा नही होता।

• वस्तुत' यह वन्धन और जकडन उसके स्वय की सम्पादित होती है। वह अपने को फसा हुआ और परिस्थितियो से घिरा हुआ मान लेता है। मुक्ति चाहते हुए भी उसको निर्बन्धन का मार्ग नही दिखता।

पर असल मे बात यह है कि वह अतरग से मुक्ति चाहता ही नही है, अन्यथा उस पर न कोई घेरा है, न कोई बन्धन। यदि वह अन्तरग से स्वतन्त्र होना चाहे तो हर बन्धन को तोड सकता है। पराधीनता की शृखला से मुक्त हो सकता है। बन्धन तो उस पर कोई है ही नही। सब कल्पना है, दिमागी अनुबन्ध है, मानसिक क्लीवता और दासता है।

मनुष्य यदि स्वय मुक्ति के लिए तुल जाए और समग्र अनुबन्ध तोडकर जी-जान से स्वतन्त्रता के लिए जुट जाए तो उसे कोई बाधे नही रख सकता। मुक्ति जब मनुष्य का लक्ष्य बनती है तब सभी कुछ उसे बेकार और निरर्थक लगने लगते हैं। सम्बन्ध मात्र उसे बन्धन जान पडता है। मेरेपन का मोह और झूठे ममत्व का व्यामोह समाप्त हो जाता है।

यथार्थ में उसका यहा कुछ भी नही है, सब कल्पित और माना हुआ है। व्यर्थ ही यह ममत्व का बोझ उठाये फिरता है। जिनके साथ वह अपना अटूट सम्बन्ध और अविच्छिन्न अनुबंध मानता है वे तो उससे प्रतिक्षण टूटते और छूटते चले जा रहे हैं। साथ रहने हुए भी उसकी आत्म-शान्ति और व्यक्तित्व को चूसने के सिवाय कुछ नही करते। जलोक चिपकी रहती है पर वह रक्त चूसने के सिवाय करती क्या है ?

मुक्ति-अभिलाषी और पूर्णता-कामी को निर्भयतापूर्वक सभी बन्धनो को तोडना चाहिए। उसे न किसी जाति का मोह होना चाहिए, न किसी सघ का, न किसी सस्था का। मुक्त मानस के लिए जातिया समान हैं, सब सस्थाए सहारा है, सब देश समान है और भाषाए तुल्य हैं। किसी एक के साथ अविवेकपूर्वक अपने को बाधना सकीर्ण और सक्लिष्ट बनना है। बेमतलब अपने विकास को अवरुद्ध और आत्मा को बद्ध करना है।

शान्ति-प्रेमी मनुष्य को यह सदा ध्यान मे रखना चाहिए कि उद्धार और कल्याण कोई जाति नहीं करेगी और न कोई दिव्य या भव्य लगने

वाली सस्था। राष्ट्र-एकत्व भी उसे द्वन्द्व-मुक्त न कर सकेगा, न किसी दल या सगठन की अधीश्वरता। ये सब तो उसे बाधेंगे और प्रतिक्षण चिन्तित, विवश और व्यथा-व्याकुल बनायेंगे।

सम्बन्ध के साथ सदा विकलता और विह्वलता ही रहती है। जैसे आग के साथ उत्ताप और दाहकता, मदिरा के साथ अविवेक और निर्धनता। कृत्रिम सम्बन्धो मे मुग्ध और आसक्त रहने वाला कभी निर्द्वन्द्व नही बन सकता और उसे शान्त अवस्था उपलब्ध नही हो सकती। शान्ति सम्बन्धो की समाप्ति चाहती है अथवा विश्व मात्र के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। जो समस्त विश्व के प्रति अपर्णशील होता है, वह कभी किसी के साथ छल नही कर सकता। किसी को अपना और किसी को पराया नही मानता, प्राणिमात्र के साथ उसका समान व्यवहार होता है।

कठोर-से-कठोर बाह्य बन्धन को तो मनुष्य शीघ्रतापूर्वक तोड सकता है, पर अन्तर् आत्मा के जो बन्धन होते हैं उनको समाप्त करना कठिन होता है। बार-बार कटु परिणाम भोगते हुए भी उनको तोड नही पाता। उनके तोडने के चिन्तन मात्र से ही दिल मे एक सिहरन होती है। मनुष्य विकृतियो से जितना आकुल-व्याकुल रहता है और अन्तर्-पीडा सहता है, उतनी बाहर की परिस्थिति से नही। अन्तर् का बन्धन उसकी आत्म-शक्ति को क्षीण कर देता है। उसमे अपने को बन्धन-मुक्त करने का बल-पराक्रम नही रह जाता। लकडी मे भी छेद कर देने वाला भ्रमर कोमल कमल की पखुडियो को नही भेद पाता। वहा वह रागाबद्ध अपने जीवन का उत्सर्ग कर देता है। बडे-बडे राज्यो को थर्रा देने वाला और कपा देने वाला मनुष्य विषयाबद्ध होकर अपने को परमदीन बना लेता है।

वस्तुत आन्तरिक बन्धनो के चक्रव्यूह को छिन्न-भिन्न करना ही मनुष्य की महत्ता है। अन्दर के बन्धनो की दासता से मुक्त हो जाए तो बाहर का कोई बन्धन उसे बाधे नही रख सकता। बीज जब अन्दर की कुण्ठा को तोडकर अकुरित हो जाता है तो जमीन उसे दबाये नही रख सकती। पुष्प जब अपनी पखुडियो को विकस्वर करता है तो उसके विकास मे

कोई बाधक नही बन सकता। विजली पर शत-शत बादलो का घेरा रहता है पर वह तो सबको विदीर्ण कर चमक ही उठती है।

मनुष्य के सकल्प मे अपरिमित शक्ति होती है। वह जब सकल्प-बल को सजोकर किसी अनुष्ठान के लिए प्रस्तुत होता है, तो कुछ भी असम्भव नही रह जाता। मनुष्य जब सुदृढ निर्णय करके बन्धन तोडना चाहे तो वह प्रत्येक बन्धन तोड सकता है, इसमे कोई सशय नही।

विचारों की पटरी : कार्य की रेल

चित्र का आधार रेखाओं का संधान है। रेखाएं जितनी सुन्दर और व्यवस्थित होती हैं, चित्र भी उतना ही मनोरम और सुघटित होता है। रेखाएं यदि बेडौल या टेढ़ी-मेढ़ी हों तो चित्र भी वैसा ही भद्दा और टेढ़ा-मेढ़ा होगा।

तात्पर्य यह है कि चित्र की सारी सुन्दरता रेखाओं की बनावट पर आधारित है। वैसे ही कार्य मात्र की अच्छाई और बुराई विचारों पर निर्भर है। संसार में जितने भी कार्य होते हैं वे सब विचारों के बल पर ही होते हैं। जब तक चिन्तन में कोई कार्य जमा न जाए तब तक वह पूरा नहीं हो सकता। विचार ही उसकी भूमिका बनाते हैं और उसको मूर्तता प्रदान करते हैं। इसीलिए समस्त कार्यों एवं योजनाओं का जनक विचार ही है। विचार-पक्ष जिस रूप में ढलना शुरू होता है, आचरण अपने आप उसी रूप में प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए विचारों की उत्तमता का विशेष महत्त्व है।

भारत के तत्त्वज्ञ ऋषियों ने यह कहा कि 'गतिर्मत्यनुसारिणी'—मनुष्य की गति वैसी ही होगी जैसी कि उसकी मति होगी। जीवन के सारे क्रिया-कलाप विचारों के अनुसार ही होंगे, यह अनुभवों का निचोड़ है और जीवन-दर्शन का प्रतिबिम्ब है। जब तक विचारों की पटरी बिछा नहीं दी जाती तब तक कार्य की रेल आगे नहीं बढ़ सकती। विचार-सत्यता और चिन्तन-शुद्धि को अत्यधिक गौरव प्राप्त है। सत्य, शुद्ध, सुश्रृंखलित और सुसन्तुलित विचारों का निर्माण करना एक बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य

है। विचारो में जब तक औदार्य और विशाल भावना का उदय नही होगा तब तक कोई महान कार्य नही हो सकता। विचार ठीक होंगे तभी सारे सम्पादन सही और सार्थक होगे।

साहित्य-निर्माण विचार-निर्माण का एक अत्यन्त इष्ट और महत्त्वपूर्ण पक्ष है। साहित्यिक दृष्टि से जब तक नैतिकता के विषय मे विचार यथा-तथ्य नही हो जाएगे तब तक किसी प्रकार की कोई सफलता पाने का दावा निर्मूल ही रहेगा। जब तक मान्यताओ और मूल्याकनो मे दृष्टि-विपर्यय और मति-विभ्रमता रहती है, तब तक कोई सही कार्य की वाछा नितान्त गलत है। इसीलिए विचारको का अभिमत है कि मनुष्य की धारणा सही, सत्य और शुद्ध बने। जो वस्तु तत्त्वत जितने मूल्य की है उससे अधिक आदर उसे न मिले। वर्तमान युग मे दृष्टि-विपर्यास बडी मात्रा मे फैला हुआ है और लोग बडी भ्रान्ति मे हैं।

ससार मे दार्शनिक दृष्टि से प्रमुखत. दो तत्त्व हैं—भोक्ता और भोग्य। सूक्ष्म-दृष्टि से देखें और सक्षेपीकरण से काम लें तो ससार मे इनके अतिरिक्त और कुछ भी नही है। भोक्ता का मतलब आत्मा से है और भोग्य का जड पदार्थों से।

भोक्ता सदा सुरक्षित रहना चाहिए। उसका पतन किसी भी अवस्था मे इष्ट और उचित नही। आत्मा का हनन करके जो भी काम किया जाता है वह उत्थान नही, पतन है। उद्धार नही, निमज्जन है। यह तभी होता है जब व्यक्ति आत्मा और जीवन से भी अधिक महत्त्व किसी और चीज को देता है। मानवता और नैतिकता का सही मूल्याकन मनुष्य नही कर पाता, तभी वह इन्हे अपने हाथो से गिराता है। कोई भी मूल्यवान चीज अपने हाथो से गिराई नही जाती। जिसे लोग मूल्यवान समझते हैं, उसे अनेक सकट सहकर भी थामे रखना चाहते हैं। आज लोग पैसे के बदले अपना ईमान और धर्म बेच देते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि वे धर्म और ईमान का क्या मूल्य होता है, इसे पहचान नही पाते। यही आज की धारणा का सबल दोप है। सही दृष्टिकोण से कभी गलत काम नही हो सकते।

जितना भी अनर्थ या अनिष्ट होता है वह सब अज्ञानजन्य और म
विभ्रम के कारण ही होता है। इस निविड अन्धकार और इस बु
विपर्यय को मिटाना होगा और सही समझ पकडनी होगी, क्योकि म
समझ की नाव ही पार लगा सकेगी।

आज अर्थ को महत्त्व दिया जाता है। अर्थ के प्रति जब तक मनुष्य
झुकाव और आकर्षण रहेगा तब तक वह नैतिकता और सत्य को न
अपना सकता।